परामर्श समिति

प्रो0 सत्यकाम,	कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
कर्नल विनय कुमार,	कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो. संतोषा कुमार	निदेशक, समाज विज्ञान विधाशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो. आशीष सक्सेना	विभागाध्यक्ष,समाजशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो. महेश शुक्ला	प्रोफेसर टी0 आर0 एस0 कालेज, ए0 पी0 एस0 विश्वविद्यालय,रीवाँ म0प्र0
डॉ. रमेश चन्द्र यादव,	असि0 प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, बैसवारा पी0 जी0 कालेज, लालगंज, रायबरेली
डॉ0 सुचिता चतुर्वेदी,	असि प्रोफेसर, (संविदा) समाजशास्त्र विभाग, समाज विज्ञान विधाशाखा

इकाई लेखक= डॉ0.विकास कुमार असि. प्रोफेसर,समाजशास्त्र ईश्वर शरण डिग्री कालेज, प्रयागराज,
इकाई = 1,2,3,4

इकाई लेखक = डॉ0 प्रज्ञा, असि0 प्रोफेसर, समाजशास्त्र डी0 डी0 यू0 पी0 जी0 कालेज, सैदाबाद, प्रयागराज इकाई = 5,6,7,8,9

इकाई लेखक = डॉ0 मनोज कुमार असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र समाज विज्ञान विधाशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज = 10,11,12

सम्पादक – प्रो0 ओम प्रकाश भारतीय, विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, समाजशास्त्र विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पाठयक्रम .समन्वयक डॉ0 मनोज कुमार असि प्रोफेसर,(संविदा) समाज विज्ञान विधाशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

जून 2024 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज– 211021

ISBN -

सर्वाधिक सुरक्षित इस सामग्री के किसी भी अंश को उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट: पाठ्यक्रम सामग्री मे मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आंकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन– उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

प्रकाशक– कुलसचिव, कर्नल विनय कुमार उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

खण्ड –
भारत मे समाजशास्त्र का उदभव

इकाई लेखक डॉ॰.विकास कुमार असि॰ प्रोफेसर, समाजशास्त्र ईश्वर शरण डिग्री कालेज, प्रयागराज

इकाई –१ भारत में समाजशास्त्र के उदभव को सामाजिक पृष्ठभूमि

इकाई –२ भारत में गाँवो का अध्ययन (M-N SRINIVAS, S-C-DUBEY)

इकाई –३ भारत में गाँवो का अध्ययन (A-R- DESAI,ANDRE BETEILLE)

इकाई –४ भारत का समाजशास्त्र एव भारतीयकरण

खण्ड – २
जाति के परिप्रेक्ष्य

इकाई लेखक डॉ॰ प्रज्ञा, असि॰ प्रोफेसर,समाजशास्त्र डी॰ डी॰ यू॰ पी॰ जी॰ कालेज, सैदाबाद, प्रयागराज

इकाई-५ ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य

इकाई-६ जाति पर अंबेडकर के विचार

इकाई-७ जाति पर लोहिया के विचार

इकाई-८ जाति का क्षेत्रपरख दृष्टिकोण

इकाई-९ औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य

खण्ड – ३
परिवार विवाह एंव नातेदारी का परिप्रेक्ष्य

इकाई लेखक डॉ॰ मनोज कुमार असि॰ प्रोफेसर, समाजशास्त्र समाज विज्ञान विधाशाखा,उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

इकाई-१० परिवार एंव इसके बदलते प्रतिमान

इकाई-११ विवाह एंव इसके बदलते प्रतिमान

इकाई-१२ नातेदारी एंव इसके बदलते प्रतिमान

MASY -117 (N)
भारत में समाजशास्त्र

खण्ड - १ भारत मे समाजशास्त्र का उदभव

इकाई –1 भारत में समाजशास्त्र के उदभव को सामाजिक पृष्ठभूमि
इकाई –2 भारत में गाँवो का अध्ययन (M-N Srinivas, S-C-Dubey)
इकाई –3 भारत में गाँवो का अध्ययन (A-R- Desai,Andre Beteille)
इकाई –4 भारत का समाजशास्त्र एव भारतीयकरण

खण्ड - २ जाति के परिप्रेक्ष्य

इकाई–5 ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य
इकाई–6 जाति पर अंबेडकर के विचार
इकाई–7 जाति पर लोहिया के विचार
इकाई–8 जाति का क्षेत्रपरख दृष्टिकोण
इकाई–9 औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य

खण्ड - ३ परिवार विवाह एंव नातेदारी का परिप्रेक्ष्य

इकाई–10 परिवार एंव इसके बदलते प्रतिमान
इकाई–11 विवाह एंव इसके बदलते प्रतिमान
इकाई–12 नातेदारी एंव इसके बदलते प्रतिमान

खण्ड परिचय : भारत में समाजशास्त्र

खण्ड परिचय भारत में समाजशास्त्र शीर्षक पर यह स्व–अध्ययन सामग्री का लेखन कार्य विभिन्न लेखको द्वारा अपनी विचारधारा के साथ और शीर्षक पर आधारित लेखन कार्य किया है। खण्ड –1 'भारत में समाजशास्त्र का उदभव'में कुल चार इकाई है जिसमें प्रथम इकाई 1 भारत में समाजशास्त्र के उदभव की सामाजिक पृष्ठभूमि शीर्षक जिसमें समाजशास्त्र का उदभव कब कैसे हुआ एवं समाजशास्त्रीयों के विचारों की प्रासंगिकता तथा विषय का अर्थ, परिभाषा पर लिखा गया कार्य है। इकाई 2 भारत में गांव का अध्ययन में श्रीनिवास और एस0 सी0 दुबे गाँव के सन्दर्भ मे क्या कहा है का उल्लेख किया गया है। इकाई तृतीय में भारत में गांव का अध्ययन, देसाई और आंद्रे बेत्ते के विचारों का वर्णन विस्तृत तरीके से किया गया है जिसमें गांव का अर्थ एवं परिभाषा का अध्ययन निम्न किताबों से अध्ययन करके लेखक द्वारा लेखन कार्य किया गया है। इकाई चतुर्थ में समाजशास्त्र एवं भारतीयकारण, विषय पर लेखक द्वरा लेखन कार्य किया गया है जिसका अध्ययन आप करेंगे। खण्ड –1 मे कुल चार इकाई का लेखन कार्य विकास कुमार ने किया है जो समाजशास्त्र की दृष्टि से प्रभावित है। अध्ययन करने पर समाजशास्त्र के विषय में आपको जानकारी अवश्य प्राप्त होगी।

खण्ड– 2 जाति के परिप्रेक्ष्य, मे जिसमें कुल पांच इकाई है। इस पांच इकाई का लेखन कार्य प्रज्ञा जी द्वारा किया गया जो एक समाजशास्त्री परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर लिखा गया है। इकाई 5 ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य, जिसमें विभिन्न विचारों की विचारधारा को सम्मिलित किया गया है ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य समाज में अपना स्थान स्थापित कर रखा है। इकाई 6 में जाति पर अंबेडकर के विचार, विषय ही भावात्मक पक्ष है जिसमें अंबेडकर के जाति के सन्दर्भ मे क्या विचार रखते थे भारत एक लोकतांत्रिक एवं विशाल देश है जिसमें विभिन्न धर्म भाषा जाति के लोग एक साथ रहते हैं लेकिन कुछ जातियों के साथ भेदभाव जैसा व्यवहार समाज के लिए ठीक नहीं है विषय पर लेखन कार्य लेखिका का अपना लेखन कार्य प्रस्तुत किया गया है। इकाई 7 जाति पर लोहिया के विचार, पर लेखिका ने विभिन्न

पुस्तकों का अध्ययन करके इस शीर्षक का लेखन कार्य किया है जिसमें लोहिया जाति को लेकर अपने क्या विचार रखते थे का विस्तृत वर्णन किया गया है । इकाई 8 मे जाति का क्षेत्रपरख दृष्टिकोण, का लेखन कार्य किया गया है जिसमें क्षेत्रीय जाति की क्या भूमिका रही है। अर्थात भारत के विभिन्न क्षेत्रों में किस प्रकार जातीय भेदभाव की स्थिति है का वर्णन किया गया है। इकाई 9 औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य, जैसे शीर्षक का विस्तृत वर्णन इस स्वरू अध्ययन सामग्री का लेखिका द्वारा किया गया एक प्रशंसनीय कार्य है।

खण्ड. 3 परिवार विवाह एवं नातेदारी का परिप्रेक्ष्य, में कुल तीन इकाई है। जिसका लेखन कार्य मनोज कुमार द्वारा किया गया है । जो पाठ्यक्रम समन्वक भी है। इकाई 10 में परिवार एवं उसके बदलते प्रतिमान, पर अपना लेखन कार्य किया है जिसमें परिवार का अर्थ, परिभाषा एवं प्रकार और परिवार का निर्माण कैसे होता है का विस्तृत वर्णन किया गया है। इकाई 11 में विवाह पर इसके बदलते प्रतिमान, का लेखन कार्य किया गया है भारतीय समाज व्यवस्था में विवाह के कितने प्रकार होते हैं हिंदू एवं मुस्लिम विवाह का वर्णन किया गया है। इकाई 12 नातेदारी एवं उसके बदलते प्रतिमान, का वर्णन किया गया है जिसमें भारतीय सामाजिक व्यवस्था में नातेदारी के स्वरूप, प्रकार ,अर्थ परिभाषा का वर्णन किया गया है स्व अध्ययन सामग्री का शीर्षक भारत में समाजशास्त्र, जिसमें कुल तीन खंड एवं 12 इकाई का वर्णन है। यह तीन लिखको द्वारा स्व अध्ययन कार्य किया गया।

इकाई-१ भारत में समाजशास्त्र के उदभव की सामाजिक पृष्ठभूमि

Social background of the emergence of sociology in India

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 समाजशास्त्र का उदभव

1.3 भारत में समाजशास्त्र का उदभाव एंव विकास

1.4 भारतीय समाजशास्त्र का ऐतिहासिक आधार

1.5 समाजशास्त्र के चिन्तन की पृष्ठभूमि

1.6 परम्परा और आधुनिकता मे बीच समाजशास्त्र

1.7 समाजशास्त्र और स्वतंत्र भारत

1.8 सारांश

1.9 बोध प्रश्न

1.10 बोध प्रश्न के उत्तर

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा–

- समाजशास्त्र का उदभव किस तरह से हुआ इसे समझना।
- भारत में समाजशास्त्र के विकास को समझना।
- भारतीय समाजशास्त्र का ऐतिहासिक आधार
- समाजशास्त्र के चिन्तन की पृष्ठभूमि
- परम्परा और आधुनिकता मे बीच समाजशास्त्र

1.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र हजारों सदियों पहले से ही विभिन्न दार्शनिकों, धर्मशास्त्रियों तथा विचारकों के विचारों में उत्पन्न हो चुका था। इस सम्बन्ध में बीयरस्टेड कहते हैं कि समाजशास्त्र की विषय वस्तु बहुत पुरानी है। टी.बी. बॉटमोर ने समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास की प्रमुख अवस्थाओं की चर्चा की है। समाजशास्त्र, जो भारत में सामाजिक मानवविज्ञान निकटता से जुड़ा हुआ है, विश्व के दूसरे हिस्सों की तरह इस देश में भी अपेक्षाकृत ठीक ढंग से परिभाषित अध्ययन क्षेत्र नहीं है। विभिन्न विद्वानों का इसके प्रति दृष्टिकोण भिन्न है और यहाँ तक कि इसके विस्तार क्षेत्र की अवधारणा भी अलग–अलग है। लेकिन उनमें से अधिकांश इसके जन्म और विकास के सामाजिक–सांस्कृतिक अध्ययन की आवश्यकता समझते हैं। और इस बात से सहमत हैं कि भारत में समाजशास्त्र पश्चिमी समाजशास्त्र से प्रभावित है। पाश्चात्य समाजशास्त्र के प्रभाव का वे अलग–अलग ढंग से मूल्यांकन करते हैं।

1.2 समाजशास्त्र का उदभव

भारत में समाजशास्त्र का जन्म पाश्चात्य लोगों द्वारा खास तौर से भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के बाद भारतीय समाज और संस्कृति की पश्चिमी व्यास्या के प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्धिक प्रतिकिया के तौर पर हुआ था। मानवशास्त्र जो समाजशास्त्रका सजातीय

शास्त्र है, बहुत हद तक पिछली तीन या चार शताब्दियों के दौरान विश्व के यूरोपियन विस्तार की ही उपज है। विभिन्न प्रजातियों और भिन्न संस्कृतियों के लोगों पर शासन करने की आवश्यकता ने यूरोपियनों में शासितों के जीवन और संस्कृति का अध्ययन करने की अनिवार्यता को जन्म दिया। भारतीय लोगों के जीवन और संस्कृति की सूचना एकत्र करने से पश्चिमी शासकों का यही हित दिखाई देता है, जिससे भारत में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र का आधार तैयार हुआ। हॉलांकि यह सत्य है कि बाद में इसमें वैज्ञानिक दिलचस्पी ने दोनों विषयों को समृद्ध किया और वे आधुनिकता के पश्चिमी सदर्भ में उभरे। साथ ही साथ औपनिवेशिक संदर्भ की उपेक्षा करना संभव नहीं होगा जिससें इस देश में समाजशास्त्र का विकास हुआ। इस देश में जिन परिस्थितियों में समाजशास्त्र का उद्‌गम हुआ उसके दोहरे पहलू पर पर्याप्त ध्यान न देने के कारण इसमें पश्चिमी समाजशास्त्र की झलक दिखाई देती है। उदाहरण के तौर पर डुमौर और पोकौक द्वारा 1957 में दिए गए कथन का कोई विरोध नहीं हुआ कि भारत का समाजशास्त्र केवल पिछले दस वर्षों में ही ठीक तरह से आरंभ हुआ है। सबसे दुःखद बात रॉबर्ट बीरस्टीड का कथन है जो समाजशास्त्र की जड़ों प्लेटों और अरस्तू तक तलाशते हैं लेकिन अंततः पूर्व में सामाजिक विचारों की परंपरा को खारिज करते हैं। बीरस्टीड लिखते हैं यद्यपि में प्रांतीयतावाद की प्रजातियों का दोषी हो सकता हूँ, मैंने बौद्धिक इतिहास की पश्चिमी रंपरा के बाहर सभी समाजशास्त्रियों को अलग छोड दिया है। यदि क्षमा की आवश्यकता पड़ी तो यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र एक स्वास विषय के रूप में पूर्वी लोगों के मस्तिष्क में नहीं आया और वस्तुतः पूर्वी समाजशास्त्रीय विचार की कोई सामग्री या ग्रंथ नहींऐसा कहने वाले बीरस्टीड अकेले नहीं हैं।

समाजशास्त्र का उद्‌भव बहुत पुराना नहीं है। समाजशास्त्र को अस्तित्व में लाने का श्रेय फ्रांस के विद्वान आगस्त कोंत को जाता है। जिन्होंने 1838 में इस नए विज्ञान को समाजशास्त्र नाम दिया। मैकाइवर कहते है कि ''विज्ञान परिवार में पृथक नाम तथा स्थान सहित क्रमबद्ध ज्ञान की प्रायः सुनिश्चित शाखा के रूप में समाजशास्त्र को शताब्दियों पुराना नहीं, बल्कि शताब्दियों पुराना माना जाना चाहिए। किन्तु जैसा कि आप जानते है मनुष्य

एक सामाजिक प्राणी है समाज में रहने के कारण उसका व्यवहार हमेशा से सामाजिक नियमों द्वारा प्रभावित होता आया है। जिस समाज में मनुष्य रहता है उसके प्रति जानकारी प्राप्त करने की इच्छा हमेशा से ही उसे रही है, इसीलिए सदियों से विभिन्न धर्मशास्त्री, दार्शनिक तथा विचार को ने सामाजिक जीवन के विषय मे अपने विचार प्रस्तुत किए है। समाजशास्त्र के उद्‌भव की नींव इस प्रकार से देखा जाए तो हजारों वर्षों पहले ही रख दी गई है। अब आप जानेंगे कि प्राचीन लेखों से वर्तमान समय तक विभिन्न अवस्थाओं में किस प्रकार से समाजशास्त्र का उद्‌भव एवं विकास हुआ है।

1.3 भारत में समाजशास्त्र का उदभाव एंव विकास

भारत में किस प्रकार से इस सामाजिक विज्ञान की स्थापना हुई। भारत में सर्वप्रथम 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रोफेसर ब्रजेन्द्रनाथ शील द्वारा समाजशास्त्र विषय पर अध्ययन प्रारम्भ किया गया। इसके पश्चात प्रो0 पैट्रिक गिड्स द्वारा बम्बई विश्वविद्यालय में इस विषय का अध्ययन किया जाने लगा। यद्यपि अनौपचारिक रूप से भारत में सामजशास्त्रीय अध्ययन अन्य रूपों में हजारों वर्ष पहले ही आरम्भ हो चुके थे। भारत वर्ष के प्राचीन ग्रन्थों जैसे– वेद, उपनिषद्, स्मृति, रामायण, महाभारत आदि में सामाजिक मूल्यों आदर्शो तथा सामाजिक संस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता हैं इसके अतिरिक्त कौटिल्य का अर्थशास्त्र, शुक्राचार्य का नीतिशास्त्र आदि भी अपने समय की सामाजिक व्यवस्था, संस्थाएँ, परम्पराओं आदि का विवरण है।

भारत में विभिन्न कालों में रचित ग्रन्थों का सामजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में व्यवस्थित पुनरावलोकन तथा विश्लेषण करके उस समय की सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं, परम्पराओं आदि के बारे में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त की जा सकती है। प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील, प्रो0 विनय कुमार सरकार, डॉ0 भगवान दास तथा प्रो0 केवल मोटवानी आदि भारतीय विद्वानों द्वारा प्राचीन ग्रन्थों का सामजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया गया है। प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील की पुस्तक ''पॉजिटिव साइन्स ऑफ द ऐन्शिन्ट हिन्दूज'। प्रो0 विनय कुमार सरकार की 'द पॉजिटिव बैकग्राउण्ड ऑफ हिन्दू सोश्योलॉजी, डॉ0 भगवानदास की ''द साइन्स

ऑफ सोशल आर्गनाइजेशन'' तथा प्रो0 केवल मोटवानी की पुस्तक ''इण्डियाज ऐन्शेण्ट लिट्रेचररू एन इण्ट्रोडक्ट्री सर्वे आदि में भारत की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था तथा समाजिक विचारधारा है।

औपचारिक रूप से 1917 में प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग के साथ ही समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की गई। य़द्यपि ये दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे तथापि उनके द्वारा समाजशास्त्रीय अध्ययन किए गये एवं ''कम्पेरिटिव स्टडी ऑफ क्रिश्चिन एण्ड वैष्णव ट्रेडिशन'' तथा ''ऑरिजिन ऑफ रेसेज'' नामक पुस्तकों की रचना की गई। 1920 के लगभग प्रो0 शील के प्रयासों से मैसूर विश्वविद्यालय में बी.ए. की कक्षाओं में समाजशास्त्र विषय को तीन अन्य विषयों के साथ एक गौण विषय के रूप में पढ़ाया जाने लगा। डॉ0 राधाकमल मुखर्जी, श्री विनय कुमार सरकार, डॉ0 डी0 एन0 मजूमदार, प्रो0 निर्मल कुमार बोस आदि प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील के ही शिष्य थे। मैसूर विश्वविद्यालय के पश्चात् 1924 में प्रो0 पैंट्रिक गिड्स द्वारा बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र तथा नागरिकशास्त्र को मिलाकर एक विभाग खोला गया। प्रो0 गिड्स ने नगरीय समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। नगर नियोजन के क्षेत्र में उनके अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बाद में जी.एस. घुरिए तथा के. एम. कापड़िया आदि विद्वान भी इसी विभाग से जुड़े जो वैसे तो मानवशास्त्री थे किन्तु समाजशास्त्र के क्षेत्र में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

सन् 1924 में प्रो0 गोविन्द सदाशिव घुरिये बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष बने। प्रो0 घुरिए ने भारत में समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इनके द्वारा 1952 में ''इण्डियन सोश्योलॉजिकल सोसाइटी'' की स्थापना की गई तथा ''सोश्योलॉजिकल बुलेटिन'' का प्रकाशन एवं सम्पादन किया गया। प्रो0 घुरिए द्वारा ''कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया'' (1957) नामक पुस्तक की रचना की गई जिसमें उन्होंने भारतीय जाति तथ वर्ग व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए। इसके अतिरिक्त इन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य देशों की परिवार संस्था का तुलनात्मक अध्ययन अपनी पुस्तक ''फैमिली एण्ड किन इन इण्डो युरोपियन कल्चर'' (1955) में प्रस्तुत किया है। पुणे

विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की स्थापना मानवशास्त्र के साथ 1938 में हुई जिसकी प्रथम अध्यक्ष इरावती कर्वे थी। लखनऊ विश्वविद्यालय में भी लगभग इसी समय सन् 1924 में डॉ0 राधाकमल मुखर्जी द्वारा अर्थशास्त्र विभाग के साथ ही समाजशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया गया। सन् 1956 में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र विभाग से अलग होकर समाजसेवा विभाग के साथ जुड़ गया। सन् 1972 तक ये दोनों ही विषय एक ही विभाग के अन्तर्गत कार्यरत रहे किन्तु इसके पश्चात् समाजशास्त्र एक स्वतन्त्र विषय के रूप में लखनऊ विश्वविद्यालय में स्थापित हो गया। सन् 1954 के दौरान भारत के कई विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में समाजशास्त्र का अध्यापन कार्य शुरू होने लगा था तथा समाजशास्त्र एक लोकप्रिय विषय बनने लगा। दिल्ली, गुजरात, नागपुर, उस्मानिया, बडौदा, कर्नाटक, पंजाब, मद्रास, कुरूक्षेत्र आदि विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र का अध्यापन कार्य शुरू किया गया। इसके साथ–साथ उत्तर प्रदेश में आगरा, वाराणसी, मेरठ, कानपुर, कुमाऊँ, गढ़वाल, गोरखपुर, रूहेलखण्ड, अवध, अलीगढ़ तथा बुन्देलखण्ड आदि में भी समाजशास्त्र विभाग स्थापित किया गया एवं एक पृथक विषय के रूप में समाजशास्त्रीय अध्ययनों हेतु अनेक अनुसंधान केन्द्र भी स्थापित किए गए है भारतीय समाजशास्त्रीय पाश्चात्य समाजशास्त्रियों की तरह संख्यात्मक विश्लेषण करने में काफी पिछड़े है।

1.4 भारतीय समाजशास्त्र का ऐतिहासिक आधार

समाजशास्त्र मानवतावादी सामाजिक विज्ञान है। इसलिए इसे किन्हीं विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में खास मानव समूहों के विशेष विचारों, आदर्शों, मूल्यों, महत्वाकांक्षाओं, समस्याओं और कठिन परिस्थितियों का ध्यान रखना होगा। हालाँकि मानव संबंधों के बारे में यह सामान्य नियम ही चाहता है। इसलिए समाजशास्त्र प्राकृतिक विज्ञान के साँचे में फिट नहीं बैठता और विभिन्न देशों में इसका विकास एक अलग तरीके से होता है या वहाँ के विशेष ऐतिहासिक अनुभवों और सांस्कृतिक स्वरूप का प्रभाव उस पर होता है। भारत में तथ्यों पर ध्यान न देने के कारण भारत में कोई भी समाजशास्त्र की भारतीय परंपरा के बारे में पर्याप्त प्रमाण के साथ बात नहीं कर सकता वरन् समाजशास्त्र की जर्मन या अमेरिकी

परंपरा पर बात कर सकता है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि भारतीय समाजशास्त्री अपने शिक्षण और अनुसंधान में पश्चिमी अवधारणाओं, विधियों और सिद्धांतों पर ही जोर देते हैं बजाय इसके कि वे अपने देश में इनका विकास करें। इस संबंध में समाजशास्त्रियों के कार्यकलाप भौतिक विज्ञानियों या जीव विज्ञानियों और यहाँ तक कि अर्थशास्त्रियों से बहुत अलग नहीं है। लेकिन समाजशास्त्रियों के पास चिंता का एक खास कारण है। मानवविज्ञान में एक तरफ आंकड़ों का संबंध और दूसरी तरफ संकल्पनाएँ, विधियों और सिद्धांत प्राकृतिक विज्ञान से अलग होते हैं। जब कोई भारतीय भौतिक विज्ञानी कोई नियम बनाता है, तो ऐन्द्रे बेटेली उस सिद्धांत को उस सामान्य नियम या सिद्धांत की तरह मानते हैं। वे मानते हैं कि यह भौतिकविज्ञानियों द्वारा न केवल भारत में वरन् सभी जगह ऐसे ही इस्तेमाल किया जाएगा।

1.5 समाजशास्त्र के चिन्तन की पृष्ठभूमि

भारतवर्ष का इतिहास चार सहस्त्राब्दियों से भी लंबा है। भारत की सांस्कृतिक विरासत में संस्कृत, प्राकृत और पाली जैसी भाषाओं में लिखे गए धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथ भरे हुए हैं, इसके अलावा मध्ययुग में, अवधी, बृज, मैथिली, बंगला, असमी, मराठी, कन्नड, तेलुगु, मलयालम आदि क्षेत्रीय भाषाओं में भक्ति साहित्य का भंडार भरा पड़ा है।

अंग्रेज़ी राज से पूर्व – साहित्यिक परंपराओं की दृष्टि से भारत की सभ्यता अपेक्षाकृत संश्लिष्ट या मिश्रित किस्म की रही है। भारतीय दर्शन में योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिक वेदांत और मीमांसा नामक छह प्रकार की विभिन्न विचारधाराएं हैं। भारतीय चिंतनधारा का यह एक महत्वपूर्ण स्रोत है। तेरह प्रमुख उपनिषदों में मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन और उसके चरम लक्ष्य से संबंधित दार्शनिक अन्वेषण हैं। इनके अलावा भारत में बौद्ध और जैन धर्मों की दार्शनिक कृतियां भी हैं। सामान्यतः ये सभी विचारधाराएं मानवमात्र के क्रमिक विकास से सम्बद्ध हैं। इन में से अधिकांश मोक्ष, अर्थात् जन्म–मरण के चक्र से मुक्त के लक्ष्य से जुड़ी हैं। भारतीय समाज नवीन परिस्थितियों के अनुरूप बदलता रहा है। आधुनिक काल से पूर्व भारत की सामाजिक विचारधारा एक बहुविध नृजातीय समाज की अभिव्यक्ति थी। इस्लामी पंरपरा के प्रभाव से सूफी संप्रदाय का उदय हुआ जिसने विशेषरूप से उत्तर भारत में लोगों के

रहन–सहन और मूल्यों को व्यापक रूप से प्रभावित किया। हिंदू और मुस्लिम विचारधारा के समन्वय का एक अच्छा उदाहरण सिख धर्म है। भारत में अलग–अलग विचारों को पनपने की स्वतंत्रता रही है। मतों व विश्वासों के आधार पर किसी विशेष वर्ग पर अत्याचार नहीं किया गया था। इसीलिए भारत के सामाजिक वर्गों के बीच एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता की भावना बनी रही। भारत में धर्म तो जनसाधारण के बीच फला–फूला किंतु दर्शन की औपचारिक विचारधाराएं मुख्यतः पढ़े–लिखे शहरी लोगों के बीच ही पनपी।

अंग्रेजों का प्रभाव – भारत में अंग्रेजों का आगमन एक ऐसी घटना थी जिसका भारतीय समाज पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। नई सामाजिक और आर्थिक शक्तियों ने पुरानी परंपराओं को तोडा। संस्कृत और फारसी जैसी प्रतिष्ठित भाषाओं के स्थान पर अंग्रेज़ी राजभाषा हो गई। भारत के ग्रामीण हस्तकला उद्योग की वस्तुए मैनचेस्टर, लंकाशायर, शेफील्ड और लंदन से आयी मशीनों के बने कपड़ों और अन्य वस्तुओं के सामने बाजार में नहीं टिक पाईं। इसके परिणामस्वरूप धीरे–धीरे ग्रामीण हस्तकला उद्योग नष्ट हो गए। उपनिवेशी शासन में भारतीय गांव एक स्वावलंबी इकाई नहीं थे।

अंग्रेज़ों ने भारत में रेल, डाक व तार द्वारा संपर्क व्यवस्था को आसान बनाकर भारतीय समाज में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन के मार्ग खोल दिये। इसके अलावा उप महाद्वीप के अनेक भागों में प्रशासनिक और न्यायिक सेवाओं की व्यवस्था भी की गई। इस विकास के द्वारा भारत ने आधुनिक युग में प्रवेश किया। अंग्रेज शासकों ने भारत में स्कूल कॉलेज और विश्वविद्यालयों की स्थापना की। मिशनरी और भारतीय स्वयंसेवी संस्थाओं ने भी भारत में आधुनिक शिक्षा के प्रचार–प्रसार के लिये प्रयास किये।

बोध प्रश्न 1

अंग्रेज़ी शासन के द्वारा भारतीय समाज में होने वाले तीन महत्वपूर्ण परिवर्तनों के बारे में लिखिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

मध्यमवर्ग मे समाजशास्त्र– पुराने सामंती वर्ग जैसे राजा, महाराजा, ज़मींदार, तालुकदार आदि अब उतने महत्वपूर्ण नहीं रह गए थे। वास्तव में जिस मध्यमवर्ग का उदय अंग्रेज़ी राज में हुआ उसने भारतीय समाज के लगभग हर क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। इस इकाई में जिन सामाजिक विचारकों की चर्चा की जाएगी वे सभी इसी मध्यमवर्ग के हैं। हालांकि धार्मिक अनुष्ठानों और पारिवारिक मामलों में जाति का महत्वपूर्ण स्थान है, लेकिन व्यवसाय, रोज़गार और जनजीवन के क्षेत्रों में वर्ग महत्वपूर्ण हो गये हैं। यहां पर हमने मध्यमवर्ग शब्द का प्रयोग सिर्फ आर्थिक रूप में नहीं किया है। मध्यमवर्ग के उदय में आर्थिक तथा सांस्कृतिक तत्वों का योगदान था। मध्यमवर्ग के लोगों का न केवल आर्थिक जीवन बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन भी समान होता है।

1.6 परम्परा और आंधुनिकता मे बीच समाजशास्त्र

कुल मिलाकर, भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग में परंपरा और आंधुनिकता के की स्थिति आ गयी थी। परंपरा का अर्थ है पुराने रीति–रिवाजों, नैतिक मूल्यों तथा आदर्शो आदि का महत्व और आधुनिकता का संबंध तर्क संगति, स्वाधीनता और समानता जैसे पाश्चात्य आदर्शों के प्रभाव से है। परंपरा और आधुनिकता एकदम से विपरीतार्थ तो नहीं हैं किंतु कुछ विद्वानों ने इनका प्रयोग पुराने और नये मूल्यों के बीच अंतर दिखलाने के लिये किया गया है। अमेरिका में भारतीय कला के संग्रहालयाध्यक्ष और सामाजिक विचारक आनंद कुमारस्वामी ने आधुनिकता

और परंपरा के इन पारंपरिक अर्थों को अस्वीकृत किया है। परंपरा से उनका अर्थ भक्तिवादी प्रथाओं से बिल्कुल नहीं है। परंपरा से उनका मतलब उन आधारभूत मूल्यों से है जो पूर्व और पश्चिम दोनों के लिए सामान्य हैं। इन विचारों के बारे में आपको आगे विस्तार से जानकारी दी जाएगी। प्रतिष्ठित समाजशास्त्री बिनय कुमार सरकार का मत इसके बिल्कुल विपरीत था। उनके अनुसार भारत में परंपरा की जड़ धर्म और आध्यात्मिकता में है। उन्होंने भारत की धर्मनिरपेक्ष शक्ति को दर्शाने का प्रयास किया है। फिर भी सरकार ने पूर्ण रूप से परंपरा को अस्वीकार नहीं किया है। मानव प्रगति के लिए वे भारतीय संस्कृति के धर्मनिरपेक्ष पहलुओं का उपयोग करना चाहते थे।

1.7 समाजशास्त्र और स्वतंत्र भारत

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान का अध्ययन धीरे–धीरे 1910–1950 के दोरान वृत्तिक रूप ले सका। आधे दर्जन से ज्यादा विश्वविद्यालयों में इन दोनों विषयों पर स्वायत्त विभाग नहीं थे और मुंबई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र में केवल एक स्नातकोत्तर अनुसंधान केंद्र घा (जिसमें मानवशास्त्र भी शामिल था) जब भारत स्वतंत्र हुआ। समाजशास्त्र और मानवविज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की छाया में दब रहा था, इनके प्रयोगकर्ता देश के राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा पूछे गए प्रश्नों का जवाब देने में स्वयं को सक्षम समझते थे। समाजशास्त्र के यूरोपीय और अमेरिका परंपराओं के साथ सहयोग से भारतीय शिक्षाविदों की आँखों में संवेह था। मानवविज्ञान को राष्ट्रवादियों ने औपनिवेशिक नीति के एक साधन के रूप में देखा। मानवशास्त्र को नापसंद करने का एक और कारण था। मानवविज्ञानियों द्वारा पढ़ने के लिए प्रायः यह सुझाव दिया गया कि जिन्होंने अध्ययन कर लिया है उन्हें मौलिक माना जाएगा और राष्ट्रवादी इस आशय से प्रसन्न नहीं हुए खास तौर से तब जब मानवशास्त्री ज्यादातर उन्हीं की प्रजाति के थे। लेकिन इस रूखेपन के बावजूद, प्रतिकूल नहीं परंतु बौद्धिक वातावरण में विद्वानों का एक छोटा समूह अपने जाति, संयुक्त परिवार, अस्पृश्यता, धर्म और वर्ग जैसे मूलभूत सामाजिक संस्थाओं के विश्लेषण में लगा रहा। उन्होंने खास समूहों के मानवजाति विज्ञान संबंधी लेखा–जोखा प्रकाशित किया, लोक वार्ता

दर्ज की और इस सामग्री को जनजातीय एवं ग्रामीण लोगों की संस्कृति के रूप में दर्शाया। भारत में समाजशास्त्र कम–से–कम शिक्षाविद रूप से इनके कार्यों के परिणामों के आधार पर खड़ा हो सकता है।

1.8 सारांश

भारत में समाजशास्त्र के आरंभ का इतिहास देखने से यह भ्रांति दूर हो जाती है कि इस देश में सामाजिक जाँच–पड़ताल या स्त्री पुरुषों की भौतिक स्थितियों के बारे में जानकारी लेने की कोई परंपरा या रुचि नहीं थी। तत्वमीमांसात्मक और अन्य संसार की धारणा के अतिरिक्त प्राचीन और मध्य युग के ग्रंथों में कई मामले ऐसे हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि उनके लेखकों को पृथ्वी पर मुनष्य के जीवन की सच्चाई और उनकी समस्याओं के बारे में रुचि थी। अंग्रेजों के आने के बाद भारतीय पाश्चात्यों के सीधे संपर्क में आए इससे पूर्व, विभिन्न प्रजातियों के यात्री और स्थानीय इतिहास लेखक जिन्होंने भारतीय समाज, संस्कृति और अर्थव्यवस्था के बारे में मूल्यवान दस्तावेज तैयार किए। यह सत्य है कि किसी स्तर पर ऐसा लग रहा था कि समाज ने अपनी सामर्थ्य खो दी है वयोंकि कुछ संस्थाएँ और रीतिरिवाज स्थायी हो गए थे और समय में परिवर्तन के साथ उन्हें बदलना भी जरूरी हो गया, लेकिन वे बदल नहीं रहे थे। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने इन्हें एक झटका दिया। किंतु नए ऐतिहासिक बल अंग्रेजीशासन की शोषणात्मक नीति के कारण, अपनी पूरी शक्ति से काम नहीं कर रहे थे या नहीं कर पा रहे थे। हालाँकि उन्होंने भारतीय जनता की सानाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियों के संबंध में वृहत आंकड़े तैयार किए। किंतु उन्होंने उसमें हेराफेरी करके अपने हितों के लिए इस्तेमाल किया।

अंग्रेजों ने व्यक्तिवादी मूल्यों पर जोर दिया, अपने व्यक्तिगत हितों के लिए कभी–कभी उन्होंने अपने ही तनाज की उपेक्षा भी की। हालाँकि यह सच है कि अंग्रेज इस देश में जाँच पड़ताल की स्वतंत्रता का मूल्य और औचित्य लेकर आए। उनके शिक्षाविद उपनिवेशवाद ने स्थानीय बुद्धिजीवियों के एक वर्ग को मोहित कर रखा था जबकि अन्य इस पर प्रश्न कर रहे थे। हालोंकि उनके अनने समाज में जाँच–पड़ताल की भावना और संस्कृति ने भारतीय

बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क में उत्तेजना पैदा की। अनुभवजन्य आंकड़ों तक पहुँचने की इस रुचि और प्रश्न पूछने की भावना ने भारत में समाजशास्त्र उद्‌गम का आधार तैयार किया।

1.9 बोध प्रश्न

(1) समाजशास्त्र को अस्तित्व में लाने का श्रेय फ्रांस के किस विद्वान को जाता है।

(अ) आगस्त कोंत (ब) दुर्खिम (स) घुरिये (द) मैक्स बेबर

(2) समाजशास्त्र किस सन मे अस्तित्व आया था

(अ) 1836 (ब) 1837 (स) 1838 (द) 1839

(3) प्रो0 गोविन्द सदाशिव घुरिये बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष कब बने।

(अ) सन् 1920 (ब) सन् 1921 (स) सन् 1922 (द) सन् 1924

(4) ''कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया''(1957) नामक पुस्तक की रचना किसने किया है ।

(अ) प्रो0 घुरिए (ब) दुर्खिम (स) डॉ0 राधाकमल मुखर्जी (द) मैक्स बेबर

(5) पुणे विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की स्थापना मानवशास्त्र के साथ 1938 में हुई जिसकी प्रथम अध्यक्ष थी ।

(अ) इरावती कर्वे (ब) दुर्खिम (स) मैक्स बेबर (द) डॉ0 राधाकमल मुखर्जी

(6) लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की स्थापन किसके द्वारा किया गया।

(अ) इरावती कर्वे (ब) दुर्खिम (स) डॉ0 राधाकमल मुखर्जी (द) मैक्स बेबर

(7) प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील द्वारा किस विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग के साथ ही समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की गई।

(अ) मुम्बई विश्वविद्यालय (ब) इलाहाबाद विश्वविद्यालय

(स) लखनऊ विश्वविद्यालय (द) कलकत्ता विश्वविद्यालय मे

1.10 बोध प्रश्न के उत्तर

1. (अ) आगस्त कोंत
2. (स) 1838
3. (द) सन् 1924
4. (अ) प्रो0 घुरिए
5. (अ) इरावती कर्वे
6. (स) डॉ0 राधाकमल मुखर्जी
7. (द) कलकत्ता विश्वविद्यालय

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- मुखर्जी, रामकृष्ण, 1979, सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी, एलाइड पब्लिशर्स, मुंबई।
- सिंह, योगेन्द्र, 1979, ष्ऑन दि हिस्ट्री ऑफ सोशियोलॉजी इन इंडियाष् इन मोहिनी मलिक (संपादित) सोशल इंक्वायरीरू गोल्स एंड एप्रोचेज, मनोहर, दिल्ली।
- श्रीनिवास, एम.एन. एंड पाणिनी, 1986, षदि डेवलपमेंट ऑफ सोशियोलॉजी एंड सोशल ऐंथ्रोपॉलोजी इन इंडियाष् इन टी. के ऊमन एंड पार्थ एन. मुखर्जी (संपादित) इंडियान सोशियोलॉजी रिफ्लेक्शंस ऑफ इंटोस्पेक्शंस, पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई।
- मदन, टी.एन. 1994. पाथवेजरू एप्रोचेज टू द स्टडी ऑफ़ सोसायटी इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।

- पटेल, सुजाता. टूवड्र्स ए प्राक्सियोलॉजिकल अंडरस्टैंडिंग ऑफ़ इंडियन सोसायटी रू द सोशयोलॉजी ऑफ़ ए.आर. देसाई. इन ओबेरॉय, सुंदर तथा देशपांडे (संपा.) (मुद्रणाधीन)।
- श्रीनिवास, एम.एन. 1955. इंडियाज विलेजेस. डेवेलपमेंट डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑफ़ वेस्ट बंगाल, वेस्ट बंगाल गवर्नमेंट प्रेस, कोलकत्ता।
- मिथ एंड रियेल्टीश इन द डॉमिनेंट कास्ट एंड अदर श्रीनिवास, एम.एन. 1987. श्द इंडियन विलेज ऐसेज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।
- ओबेरॉय, पेट्रीशिया, नंदिनी सुंदर तथा सतीश देशपांडे (संपा.) 2007. डिसिपलिनरी बायोग्राफ़ीज़ : एसेज़ इन द हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन सोशयोलॉजी एंड सोशल एंथ्रोपोलॉजी, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली।
- उपाध्याय, कैरल. द आइडिया ऑफ़ इंडियन सोसायटी : जी.एस. घूर्ये एंड द सोशयोलॉजीश इन ओबेरॉय, सुदर तथा देशपांडे (संपा.) 20071 मेकिंग ऑफ़ इंडियन
- ऊमन टी. के. एंड मुखर्जी, पी.एन. (संपादित) 1986. इंडियन सोशियोलॉजी पापुलर प्रकाशनः मुंबई
- बेकर, हावर्ड, एंड बार्स, एच.ई. 1961. सोशल थॉट्स फ्राम लोर टू सांइस. तीसरा संस्करणः वाल्यूम 3. डोवर पब्लिकेशनः न्यूयार्क

इकाई-२ भारत में गांवों का अध्ययन (एम.एन. श्रीनिवास, एस. सी. दूबे)

इकाई की रूपरेखा

2.0 प्रस्तावना

2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

2.2 संदर्भ

2.3 कृषि और कृषि कार्य

2.4 गाँव का महत्व

2.5 कार्यक्षेत्र का परिदृश्य और कार्यक्षेत्र

2.6 एम. एन. श्रीनिवास

2.6.1 जीवन परिचय

2.6.2 ग्राम का अध्ययन

2.7 एस. सी. दुबे

2.7.1 जीवन परिचय

2.7.2 ग्राम अध्ययन

2.8 सारांश

2.9 संदर्भ

2.0 प्रस्तावना

1950 और 1960 के दौरान गाँवों का अध्ययन एक मुख्य विचारणीय विषय बना और इस शास्त्र की संवृद्धि और व्यावसायीकरण के दौरान कई विनिबंध और अभिपत्र प्रकाशित हुई। इस इकाई में आप इस ग्रामीण–अध्ययन के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करेंगे। समकालीन भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक पटल पर गाँवों का महत्वपूर्ण स्थान है। पिछले पाँच या छह दशकों में भारत के महत्वपूर्ण औद्योगीकरण और इसकी शहरी जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि के बावजूद भारतीयों की अधिकांश जनसंख्या पाँच लाख से अधिक गाँवों में निवास करती है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या का 72 प्रतिशत ग्रामीण भारतीय थे। इस प्रकार यद्यपि देश की कुल राष्ट्रीय आमदनी में कृषि का हिस्सा लगभग एक चौथाई रह गया है, भारत की लगभग आधी जनसंख्या सीधे कृषि क्षेत्र में नियोजित है।

इसके अलावा महत्वपूर्ण जनसांख्यिकीय तथा बुनियादी यथार्थ होने के कारण समकालीन भारत को चित्रित करते समय गाँव भी महत्वपूर्ण वैचारिक श्रेणी में आते हैं, यह वह श्रेणी है जिसमें प्रायः भारत की कल्पना की गई है और आधुनिक समय में भी इसी रूप में इसकी कल्पना की जाती है। गाँव को "प्रामाणिक स्थानीय जीवन" के चरम परिचायक के रूप में देखा गया है, यह एक ऐसा स्थान है जहाँ "वास्तविक" भारत को देखा जा सकता है और यह समझा जा सकता है कि किस प्रकार स्थानीय लोग अपने संबंधों और विश्वास की प्रणाली को संगठित करते हैं। जैसा कि आंद्रे बेस्तई लिखते हैं, "गाँव केवल वह स्थान नहीं है जहाँ लोग रहते हैं; यह वह अभिकल्पना है जिसमें भारतीय सभ्यता के आधारभूत मूल्य दिखाई पड़ते हैं" (बेते 1980 : 108) । भारतीय "ग्राम्य समुदाय" के संस्थागत स्वरूप और इसके सांस्कृतिक मूल्यों को बीसवीं शताब्दी के उस समाज का उदाहरण कहा जा सकता है, जिसे "पारंपरिक समाज" के रूप में जाना गया।

2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यद्यपि प्राचीन और मध्यकालीन समय में ग्राम्य–जीवन का विस्तृत विवरण मिलता है, यह अंग्रेजी उपनिवेशवाद का समय था, जब औपनिवेशिक प्रशासक भारतीय गाँवों की छवि का निर्माण कर रहे थे जिनके दूरगामी निहितार्थ थे वे जिन विचारवादी और राजनीतिक तरीके से भारतीय समाज का निरूपण कर रहे थे उसी तरीके से आने वाले समय में भारतीय समाज की संकल्पना की जानी थी। जेम्स मिल के पूर्व लेखन के साथ चार्ल्स मेटकॉफ की भारतीय समुदाय के प्रति धारणा ने बाद में ग्रामीण भारत पर लिखे जाने वाले लेखन की शैली निर्धारित की। मेटकॉफ ने अपनी प्रसिद्ध टिप्पणी में कहा कि "भारतीय ग्रामीण समाज कुछ गणतंत्रात्मक था, उनके पास वह सब कुछ था, जिसकी उन्हें इच्छा थी, और बाहरी संबंधों से वे लगभग असंपृक्त थे। वे वहाँ टिके रहे जहाँ कुछ भी नहीं टिक सकता। एक के बाद दूसरा वंश आया, पीढ़ियाँ बदलती रहीं; एक आंदोलन के बाद दूसरा आंदोलन आया लेकिन ग्रामीण समुदाय वैसा ही रहा।" (कोहन, 1987: 213) यद्यपि सभी औपनिवेशिक प्रशासक भारतीय ग्राम के मेटकॉफ के मूल्यांकन से सहमत नहीं थे इसके बावजूद यह भात का सर्वाधिक प्रचलित और प्रभावशाली प्रतिनिधित्व करने वाला मूल्यांकन बना। औपनिवेशिक भाषा में भारतीय गाँव जमीन के सामुदायिक स्वामित्व वाला आत्म–निर्भर समुदाय था तथा विभिन्न व्यवसाय वाले समूहों की कार्यात्मक एकता उसकी पहचान थी। जितनी विभिन्नता थी उतना ही स्थायित्व भी था, सरलता और सामाजिक सामंजस्य को गाँवों की विशेषता माना गया और इसे भारतीय सभ्यता की आधारित इकाई के तौर पर भी लिया गया। "प्रत्येक गाँव एक आंतरिक संसार था, एक पारंपरिक समुदाय, अर्थव्यवस्था में आत्मनिर्भर, शासन में पितृसत्तात्मक, अन्य विरोधी गाँवों से घिरा हुआ और निरंकुश सरकार वाला।" (इंडेन, 1990: 133)

स्वतंत्रता के बाद भी "गाँवों" को "भारतीय समाज की आधारित इकाई माना जाता रहा। शैक्षिक परंपरा में गाँवों का अध्ययन संभवतः भारत में कार्यरत समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवविज्ञानियों के बीच सर्वाधिक प्रचलित था। उन्होंने भारत के गाँवों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को केंद्रित करते हुए बड़ी संख्या में अध्ययन किए। इनमें से अधिकांश अध्ययनों का प्रकाशन 1950 और 1960 के दशकों के दौरान हुआ। इन

"ग्रामीण अध्ययनों" ने भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान के विषयों को सम्मान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप से क्षेत्रीय कार्य पर आधारित लेखे–जोखे के आधार पर जो ज्यादातर एक ही गाँव से लिए गए थे, सामाजिक मानवविज्ञानियों ने ग्रामीण लोगों के सामाजिक संबंधों, संस्थागत तरीके, विश्वासों एवं मूल्य प्रणाली की संरचना को केंद्रबिंदु बनाया। इन अध्ययनों के प्रकाशन से भारतीय सामाजिक विज्ञान के इतिहास में एक नए चरण की शुरुआत को पहचान मिली। पहली बार उन्होंने भारतीय समाज की क्षेत्रीय कार्य पर आधारित समझ की प्रासंगिकता प्रदर्शित की या जिसे भारत के "क्षेत्रीय विचार" के रूप में जाना गया।

2.2 संदर्भ

औपनिवेशिक प्रशासकों/मानवजाति विज्ञानियों के बाद वह "छोटा" सामाजिक मानवशास्त्र का ही विषय था जिसने विस्तृत रूप से 1950 और 1960 के दौरान भारतीय गाँवों का अध्ययन किया। ग्रामीण सामाजिक जीवन में यह नई रुचि पाश्चात्य अकादमी में किसानों के जीवन पर अध्ययन में उभरी नई–नई रुचि का सीधा प्रसार थी।

युद्ध के बाद उपनिवेश के समाप्त होने के परिणामस्वरूप तथाकथित "नए राज्यों" के उद्‌गम का सामाजिक विज्ञान में अनुसंधान की प्राथमिकताओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव था। नए तौर पर उभरे "तीसरे विश्व" के देशों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता उनकी जनसंख्या के एक बड़े अनुपात का स्थिर कृषि क्षेत्र पर निर्भरता थी। इसीलिए औद्योगीकरण के बावजूद नए राजनीतिक शासकों के लिए उनकी कार्यसूची का एक प्रमुख मद उनकी "पिछड़ी" और स्थिर कृषि अर्थव्यवस्था थी।

कृषि–संबंधों की वर्तमान संरचना को समझना और उन्हें रूपांतरित करने के तरीकों और मार्गों का पता लगाना विकास अध्ययन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राथमिकताओं के रूप में पहचाने गए। यह इस संदर्भ में था कि "कृषि" को सामाजिक मानवविज्ञान के विषय में

सबसे प्रचलित पाया गया। उस समय जब आदिम जनजातियाँ या तो लुप्त होने की प्रक्रिया में थीं या पहले ही लुप्त हो चुकी थीं, "कृषक–वर्ग" की खोज ने सामाजिक मानवविज्ञान की शाखा को जीवन का नया अध्याय" प्रदान किया।

गाँव में प्रासंगिक विषय पाकर सामाजिक मानवविज्ञानियों (जिनमें से ज्यादातर या तो पाश्चात्य थे या वे भारतीय विद्वान थे जिन्होंने पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षण प्राप्त किया था) ने 1950 के आरंभ में क्षेत्रीय अध्ययन आरंभ किया। अक्टूबर 1951 और मई 1954 के दौरान इकॉनोमिक वीकली में (जो बाद में इकॉनोमिक और पोलीटिकल वीकली बना) अलग–अलग गाँवों के संक्षिप्त लेखे–जोखे वाले लघु निबंध विभिन्न मानवविज्ञानियों के अध्ययन के आधार पर प्रकाशित हुए। ये निबंध बाद में 1955 में लिटिल इंडियाज़ विलेज में एम.एन. श्रीनिवास के साथ पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। मैकिम मैरियट की पुस्तक विलेज इंडिया भी उसी वर्ष आई। डी.एन. मजूमदार को रूरल प्रोफाइल (ग्रामीण परिदृश्य) का पहला खंड भी उसी वर्ष 1955 में आया। एस.सी. दुबे ने भी उसी वर्ष हैदराबाद के निकट एक गाँव का संपूर्ण अध्ययन ' इंडिया विलेज' प्रकाशित किया।

2.3 कृषि और कृषि कार्य

किसी मानवविज्ञानी ने खासतौर पर किसी एक "मध्यम" आकार के गाँव को चुना जहाँ उसने गहन क्षेत्रीय कार्य किया, आमतौर पर वे वहीं उसी "समुदाय" के बीच पर्याप्त लंबे समय तक जैसे एक से दो वर्षों तक रहते थे और अंत में जब वे बाहर आते थे, तो गाँव के लोगों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के लेखे–जोखे का एक "समग्र" रूप उनके मस्तिष्क में होता था। इन अध्ययनों में जो सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी जिसकी वजह से इन्हें मानववैज्ञानिक अध्ययन कहाँ गया वह क्षेत्रीय कार्य का अंग था और पश्चिम में मानव–वैज्ञानिकों द्वारा विकसित आंकड़ा संग्रहण का "प्रतिभागी अवलोकन" विधि का प्रयोग करना था, जिसका विकास जनजातीय समुदायों का अध्ययन करते समय किया गया था।

2.4 गाँव का महत्व

गाँवों के अध्ययन की प्रासंगिकता को क्रियाविधि के रूप में देखा गया। गाँवों और इनके उपग्रामों ने "लघु जगत में भारत" का प्रतिनिधित्व किया (होबल, हेबर्ट, 1971: vii)। मानवविज्ञानियों के लिए, "वे अमूल्य प्रेक्षण केंद्र थे जहाँ पर वे विस्तार से उन सामाजिक प्रक्रियाओं और समस्याओं का अध्ययन कर सकते थे जो भारत के अधिकतर भागों में विद्यमान थीं (श्रीनिवास 1955 : 99)। सम्भवतया गाँव लोगों, उनके जीवन, आजीविका और संस्कृति के अधिक निकट थे और वे वैयक्तिक प्रतिष्ठा और पहचान के केंद्र में थे। एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक और सामाजिक इकाई के रूप में गाँवों ने इसके निवासियों के व्यवहार के ढंग को बहुत अधिक प्रभावित किया। ऐसा माना जाता है कि गाँवों का अस्तित्व कई सौ साल पुराना है। इन्होंने अनेक युद्ध झेले हैं, अनेक बादशाह बनाए हैं तथा राजघरानों को उजड़ते देखा है, अकाल, बाढ़ और अन्य प्राकृतिक आपदाओं को झेला है। इस "ऐतिहासिक निरंतरता और गाँवों के स्थायित्व" ने ग्राम अध्ययन के लिए सशक्त और सुदृढ़ केस प्रस्तुत किए हैं (दासगुप्ता, 1978:1)।

पचास और साठ के दशकों में ग्राम अध्ययन का काम भी महत्वपूर्ण था क्योंकि इस अवधि में भारतीय समाज में तेजी से बदलाव आ रहा था और मानवविज्ञानियों को समय से परंपरागत सामाजिक व्यवस्था के विवरणों का रिकार्ड रखना बहुत जरूरी था। इस तात्कालिकता के महत्व पर प्रकाश डालते हुए श्रीनिवास ने लिखा, "जहाँ तक हो सके हमें मूलभूत रूप से और तेजी से बदलते हुए समाज के तथ्यों को आगामी दस वर्षों में रिकॉर्ड कर लेना चाहिए। (श्रीनिवास, 1955:99)

2.5 कार्यक्षेत्र का परिदृश्य और कार्यक्षेत्र

"कार्यक्षेत्र परिदृश्य" समकालीन भारतीय समाज को समझने का श्रेष्ठ तरीका था जिससे शास्त्रीय हिंदू ग्रंथों में भारतीय विद्याशास्त्रियों द्वारा निर्मित भारत का "पुस्तकीय–दृश्य" "आंशिक" रूप से "सुधारात्मक" रूप में प्रस्तुत किया गया। "पुस्तकीय–दृश्य" आंशिक केवल इसलिए नहीं था क्योंकि यह "प्राचीन काल" में लिखे गए ग्रंथों पर आधारित था बल्कि यह

इसलिए भी आंशिक था क्योंकि भारतीय विद्याशास्त्रियों द्वारा इस्तेमाल किए गए ग्रंथ "आभिजात्य" उच्च जाति कि हिंदुओं द्वारा लिखित थे।

इसके विपरीत मानववैज्ञानिक प्ररिप्रेक्ष्य में छान–बीन की वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया गया है और "आधारिक" स्तर पर भारतीय समाज में सामाजिक जीवन किस प्रकार संगठित था इसका "समग्र" चित्र प्रस्तुत किया। यद्यपि कुछ विद्वान भारत से भी थे और इसीलिए ग्रामीण समाज के बारे में कुछ पूर्व–कल्पित धारणाएँ थीं, "उचित वैज्ञानिक प्रशिक्षण" से इस तरह के पूर्वाग्रहों को दूर किया जा सकता है।

गाँव में कोई मानवविज्ञानी गाँव वालों के साथ जिस तरह से अपने संबंध स्थापित करता है, उसी प्रकार उसे सूचना देने वाले मिलते हैं। सबसे पहला प्रश्न किसी आगुंतक से यह पूछा गया कि उनकी जाति क्या है। उसी के अनुसार गाँव वालों ने उन्हें अपनी संरचना में रखा और स्थान तथा स्थिति प्रदान की। मानवविज्ञानी को न केवल उसे दी गई स्थिति का सम्मान करना पड़ा, बल्कि उससे उस जातिगत समाज के मानदंडों और तौर तरीकों के अनुरूप आचरण करने की भी अपेक्षा की गई। मानवविज्ञानी गाँव की सामाजिक संरचना में घुले मिले और बगैर नहीं रह सकते थे क्योंकि उन्हें पर्याप्त लंबे समय तक गाँव में रहकर उन्हीं का एक हिस्सा बनकर उनकी विधियों आदि का पर्यावेक्षण करना था। गाँव वालों के साथ संपर्क स्थापित करने का रूटीन तरीका यही था कि गाँव के नेता या पंचायत के मुखिया से संपर्क स्थापित किया जाए, जो निश्चित रूप से प्रभावशाली उच्च जाति से आते थे। ज्यादातर मानवविज्ञानी स्वयं उच्च जाति या मध्यवर्ग की पृष्ठभूमि से थे, अतः उनके लिए इन नेताओं तक पहुँचना और उनसे संपर्क बनाना आसान था। इससे उन्हें अपना अध्ययन पूरा करने में भी कम कठिनाई हुई। मजूमदार इसे इस तरह व्यक्त करते हैं : पूर्व जमींदार परिवारों ने रहने के लिए जगह दी और समय–समय पर मेजबान की तरह पेश आए, और इस संपर्क से ज्यादा समझदारी तथा विश्वास से काम करने में सहायता मिली; संपर्क स्थापित करने में थोड़ा प्रयास करना पड़ा (मजूमदार, 1958:5)।

"कार्यक्षेत्र दृष्टिकोण" में लैंगिक भेदभाव की भूमिका को रेखांकित करते हुए कुछ भारतीय महिला मानवविज्ञानियों में से एक, लीला दुबे, जिन्होंने एक गाँव में काम किया, लिखा है, "मैं एक ब्राह्मण और एक महिला थी, इसे गाँव वालों ने कभी भूला नहीं" (दुबे, 1975 : 165)।

श्रीनिवास क्षेत्रीय कार्य के बारे में अपने अनुभव बताते हुए इसी तरह की कहानी बताते हैं। चूँकि उन्होंने जिस गाँव में अपना क्षेत्रीय अध्ययन किया उनका परिवार उसी क्षेत्र का था, इसलिए गाँव वालों के लिए उन्हें रखना आसान हो गया। गाँव वालों के लिए "वे सर्वप्रथम एक ब्राह्मण थे जिनके संयुक्त परिवार की पड़ोसी गाँव में जमीन थी" (श्रीनिवास, 1976: 33)। पुराने ग्रामवासियों ने उन्हें ब्राह्मण और भूस्वामी का दर्जा दिया। ऐसा करके उन्होंने अपने प्रति उनके व्यवहार को अनुकूल बनाया और इसके बदले उनका व्यवहार भी उनके प्रति उसी प्रकार बदला।

2.6 एम. एन. श्रीनिवास

2.6.1 जीवन परिचय

मैसूर नरसिंहाचार श्रीनिवास का जन्म 16 नवंबर, 1916 को मैसूर शहर के नरसिंहाचार नामक एक पारंपरिक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता अरकेरे नामक गाँव से यहाँ आए थे, जो कि मैसूर शहर से लगभग 20 मील दूर स्थित है। वह यहाँ सरकारी नौकरी में थे। गाँव छोड़ने की दूसरी वजह अपने बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराना भी था।

उपर्युक्त से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि श्रीनिवास का परिवार शिक्षा को बहुत महत्व देता था। उनके सबसे बड़े भाई पहले एक स्कूल में शिक्षक के रूप में अंग्रेजी पढ़ाते थे और फिर मैसूर विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के सहायक प्रोफेसर हो गए थे। उन्होंने ही श्रीनिवास से अपना लेखन कौशल सुधारने का आग्रह किया था। अपना लेखन कौशल

सुधारने का एक अन्य तरीका जो उन्होंने अपनाया, वह था अपनी पांडुलिपियों को सम्पादन के लिए आर.के. नारायण सुप्रसिद्ध उपन्यासकार को देना।

श्रीनिवास के बौद्धिक विचारों को आकार उन तीन विश्वविद्यालयों में दिया गया जहाँ उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। इनमें प्रथम था मैसूर विश्वविद्यालय, जहाँ उन्होंने ए.आर. वाडिया और एम.एच. कृष्णा के संरक्षण में सामाजिक दर्शन का अध्ययन किया; दूसरा था बम्बई विश्वविद्यालय, जहाँ उन्हें जी.एस. घुर्ये द्वारा शिक्षा द्वारा शिक्षा प्रदान की गई, तथा तीसरा था– ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, जहाँ उन्हें ए.आर. रैडक्लिफ ब्राउन और इवांस–प्रिचर्ड से प्रशिक्षण प्राप्त हुआ। स्नातकोत्तर स्तर पर श्रीनिवास ने जी.एस. घुर्ये के सानिध्य एवं मार्गदर्शन में शिक्षा प्राप्त की।

घुर्ये द्वारा प्रोत्सहित किए जाने पर ही उन्होंने मैसूर राज्य में रहने वाली कन्नड जाति में विवाह एवं परिवार पर एक संक्षिप्त क्षेत्र–आधारित अध्ययन संचालित किया। इसी अध्ययन को एक शोध–प्रबंध के रूप में प्रस्तुत कर तदंतर उन्होंने इसे मैरिज एंड फेमिली इन मैसूर (1942) नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाया। ऑक्सफोर्ड में रहकर उन्होंने डी.फिल उपाधि कार्यक्रम के तहत अपना शोध कार्य रैडक्लिफ ब्राउन की देखरेख में किया। उन्हीं के सुझाव पर श्रीनिवास ने संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम का प्रयोग कर कूर्ग विषयक सामग्री का पुनरावलोकन किया। वर्ष 1951 में श्रीनिवास भारत लौट आए। यहां आकर उन्होंने बड़ौदा विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की।

वर्ष 1959 में श्रीनिवास को दिल्ली विश्वविद्यालय स्थित दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में समाजशास्त्र के नवस्थापित अध्यक्ष पद हेतु आमंत्रण मिला। वर्ष 1966 और 1969 के बीच वह इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसाइटी के अध्यक्ष रहे। इस संस्था की पत्रिका सोशियोलॉजिकल बुलेटिन को उन्होंने फिर से शुरू किया वर्ष 1972 में वह अपने गृह राज्य कर्नाटक लौट आए। उन्होंने नवस्थापित सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन संस्थान में संयुक्त निदेशक का पदभार सँभाला। उनका मुख्य उद्देश्य दक्षिण भारत में समाजशास्त्र का स्तर बढ़ाना था (शाह, 1966)। सात वर्ष बाद इस संस्था से सेवानिवृत्त हो वह बंगलौर स्थित

नेशनल इंस्टीच्यूट फॉर एडंवास स्टडीज की सेवा में आ गए। अंततः 30 नवंबर, 1999 को उनका देहांत हो गया।

2.6.2 ग्राम का अध्ययन

श्रीनिवास का मानना था कि ग्राम अध्ययन ही भारतीय समाज, संस्कृति एवं सभ्यता के विषय में जानने का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। यही शोध कार्य सामाजिक नृविज्ञान में जनजातीय अध्ययन से कृषकों की जीवनशैलियों, सामाजिक आंदोलनों एवं सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन की ओर चले जाने पर जोर देने का संकेत देते हैं। श्रीनिवास ने गाँवों की यथार्थपरक व्याख्या में महत्वपूर्ण योगदान दिया। आरंभ में उन्होंने भारत में गाँवों के परिवेश में मिथकों का भंडाफोड़ किया। सिलेक्ट कमेटी ऑन द अफेयर्स ऑफ दि ईस्ट इंडिया कम्पनी की पाँचवीं रिपोर्ट में गाँव को एक लघु समाज के रूप में एक निष्चल, निष्क्रिय और अपरिवर्ती इकाई माना गया। श्रीनिवास ने भारतीय गाँवों की वास्तविकता को सामने रख इस अत्यधिक एकांगी दृष्टिकोण का विरोध किया। उन्होंने असमानता, रोग एवं निरक्षता के साथ–साथ ग्राम्य संसाधनों पर भी प्रकाश डाला। लेखक ने इस बात को सामने रखा कि समतावादी होने की बजाय गाँव पदानुक्रम और राजनीति के प्रभाव से संचालित होते हैं। उसने नीति–निर्माताओं के मस्तिष्क में गाँवों में साक्षात वास्तविकता और दृष्ट एवं कल्पित वास्तविकता के बीच अंतर की ओर ध्यान–आकृष्ट किया।

श्रीनिवास (1975) ने गाँव एवं राज्य के बीच नियमित अथवा निरंतर संबंधों के साथ–साथ संपर्क के वैयक्तिक अवसरों का भी वर्णन करते हुए ग्राम्य जीवन के आव्यूह में आत्मरक्षा, सामूहिक संघर्ष एवं स्थानीय शासन की भूमिका पर बल दिया। पूर्व–ब्रिटिश काल में राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों कारक संयुक्त रूप से राजनीतिक सीमाओं से परे दिशांत संबंध कायम करने में बाधा उत्पन्न करते थे।

राजनीतिक सीमाओं से परे लोगों का एक साथ जाना हर व्यक्ति के लिए सरल नहीं था, विशेषकर निम्न जाति के लोगों के लिए। इसके अलावा, राजनीतिक रूप से महत्वाकांक्षी संरक्षक अपने स्थानीय समर्थक बनाकर उन्हें जोड़कर रखने का यत्न किया करते थे। इसके

लिए उन्हें समर्थकों को खिलाना–पिलाना पड़ता था, विशेषकर विवाह एवं अंतिम संस्कार के अवसरों पर। उन्हें आवश्यकतानुसार ऋण व अन्य सहायता भी देनी पड़ती थी। वह नेता जो अपने काश्तकारों व श्रमिकों को खाद्यान्न दान अथवा उधार देता था, अपनी साख बना लेता था और फिर जनसामान्य का समर्थन भी सुनिश्चित कर लेता था। पुनश्च, ग्राम्य जीवन की गतिकी को मालिक–मजदूर और संरक्षक–ग्राहक संबंधों में रूपावित व्यवस्था के माध्यम से भूल भुलैया द्वारा परिभाषित किया जाता है। जब श्रम दुर्लभ था तो समाज 'उत्पादन पिरामिडों' की एक श्रृंखला में विभाजित हो गया था, जिनमें शीर्ष पर जमींदार, उसके नीचे कारीगर एवं सेवा जातियाँ तथा सबसे नीचे भूमिहीन श्रमिक होते थे। संरक्षकों के बीच विवाद एवं प्रतिद्वंद्विता संस्थागत संबंधों से और गाँव पर संकट समाज द्वारा नियंत्रित किए जाते थे। ऐसे प्रसंग में राजनीतिक सत्ता संस्थागत व्यवस्था से समझौता वार्ता करके ही हासिल की जा सकती थी।

धर्म और जाति के बाद श्रीनिवास के अध्ययनों का तीसरा केंद्र ग्राम था। इसकी प्रेरणा 1945–46 में उन्हें रैडक्लिफ ब्राउन से प्राप्त हुई थी। ऑक्सफोर्ड से लौटकर मैसूर के गाँव रामपुर को उन्होंने अपने अध्ययन के लिये चुना। इसी अध्ययन में से प्रभु जाति की अवधारणा विकसित हुई। 1976 में अपनी पुस्तक 'रिमेम्बर्ड विलेज' में उन्होंने उन सामाजिक–आर्थिक परिवर्तनों की चर्चा की थी। वे लिखते हैं– 'भारत की स्वतंत्रता के बाद तकनीकी प्रगति ने रामपुरा गाँव के जीवन को परिवर्तित किय है। तकनीकी परिवर्तन के साथ सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परिवर्तन भी हुए हैं।

श्रीनिवास का मुख्य उद्देश्य भारतीय समाज को समझना था। उनके अनुसार भारतीय समाज यथार्थ में जाति समाज है। भारत में धर्म, जाति और गाँव का उन्होंने अध्ययन किया। ईवान्स प्रिचार्ड का प्रभाव भी उन पर था। प्रकार्यात्मक विधि में दोनों मानवशास्त्री उच्च स्तर के थे। ये दोनों यथास्थितिवादी भी थे। उच्च जातियों को जो प्रतिष्ठा मिली है, उसे चलने दें और निम्न जातियों तथा अधीनस्थ समूहों को अपने स्थानों पर बने रहने दें, ऐसा विचार भी व्यक्त किया गया है। श्रीनिवास के मत में भारतीय परंपराएँ जाति, धर्म और

गाँव में हैं। उनका विचार था कि भारतीय सामाजिक संरचना का संबंध हिन्दू धार्मिक संरचना से मिलता–जुलता है।

श्रीनिवास ने तकनीकी और आर्थिक विकास की चर्चा भी की थी। अपने सारे अध्ययनों में उन्होंने जाति, धर्म और परिवार में परिवर्तनों की चर्चा की है। इन क्षेत्रों का अध्ययन करते समय भी वे निम्न वर्गों को थोड़ा हटा देते हैं। जाति व्यवस्था के दुर्गुणों की चर्चा उन्होंने भी की थी, जिनको हटाना वे सामाजिक परिवर्तन को अध्ययन में करने के लिये वैकल्पिक अध्ययनों की आवश्यकता मानते थे। लेकिन इसका दृष्टिकोण ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म और परम्पराओं का था। संस्कृतीकरण की अवधारणा को प्रोत्साहन देने के चक्कर में वे हिंदू धर्म के सीमांत समूहों को भूल गए।

उनके लिये भारतीय परंपराएँ वे हैं जो जातियों और गाँवों में प्रतिबिंबित होती हैं। ये हिन्दूवादी परंपराएँ थी पर निरपेक्ष नहीं थीं। 1993 में टाइम्स ऑफ इंडिया में प्रकाशित एक लेख में उन्होंने लिखा था कि भारत को एक नये दर्शन की आवश्यकता है, जिससे आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक संकट से मुक्ति पाई जा सके। दर्शनशास्त्र कोई निरपेक्ष मानवता पैदा नहीं कर सकता। रचनाकार तथा सुरक्षा देने वाले ईश्वर में हमें विलीन होना पड़ेगा। संस्कृतीकरण और प्रभु जाति की अवधारणाएँ उन्हें राष्ट्रवाद के करीब ले जाती हैं। दोशी (2003) यह मानते हैं जाति व्यवस्था से उत्पन्न होने वाली परंपराएँ बेमानी हैं.. क्योंकि संविधान ने संपूर्ण जाति व्यवस्था को ही नकार दिया है।

श्रीनिवास का 'रिमेम्बर्ड विलेज' दक्षिण भारत के गाँवों में परिवर्तन का एक उपन्यास सरीखा है। गाँव में तीन आधारों की चर्चा उन्होंने की थी गाँव का मुखिया, पुराने जमाने के भूमिपति (जमींदार) और वह व्यक्ति जो गाँव को बाह्य शक्तियों के साथ जोड़ता है। कुले, गोड़ा तथा नाडू गोड़ा इसी प्रकार के पात्र थे।

श्रीनिवास ने हिन्दू समाज और संस्कृति के विश्लेषण के साथ गैर हिन्दू समुदायों की भी चर्चा की जो हिन्दुओं के साथ निरंतर क्रियारत और आमने सामने थे। यदि हम इस पर विचार नहीं करते तो भारत की जटिल सांस्कृतिक विचारधाराओं को समझा नहीं जा

सकता। भारत की विविधता और जटिलता को समझने के लिये इनका अध्ययन आवश्यक है। जोशी (2000) का कहना है कि वे हिन्दू समाजशास्त्री थे पर स्वयं हिन्दू संस्थाओं का क्षेत्रीय कार्यों द्वारा उन्होंने विशद अध्ययन किया था।

2.7 एस. सी. दुबे

2.7.1 जीवन परिचय

श्यामाचरण दुबे का जन्म मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर में 25 जुलाई 1922 को हुआ था। 74 वर्ष की आयु में 4 फरवरी 1966 को उनका निधन हो गया था। नागपुर विश्वविद्यालय से उन्होंने राजनीतिक विज्ञान में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की। मध्यप्रदेश की कमार जनजाति में बदलती खेती पर उन्होंने शोध कार्य प्रारंभ किया। देश और विदेश में उन्होंने समाजशास्त्र और मानवशास्त्र का अध्ययन किया। बिशप कॉलेज नागपुर में वे व्याख्याता बने। बाद में लखनऊ विश्वविद्यालय में उन्होंने राजनीतिशास्त्र विभाग में अपनी सेवा दी।

इसी अवधि में 'कमार' पर उनकी पुस्तक प्रकाशित हुई। मानवशास्त्रियों ने और विशेष रूप से डी. एन. मजूमदार ने प्रकाशन की प्रशंसा की। 'ईस्टर्न एन्थ्रोपोलोजिस्ट' पत्रिका के संपादन में उन्होंने डी.एन. मजूमदार की सहायता की थी। उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद में फ्यूरर हेमनडार्क के स्थान पर उन्होंने रीडर का पद भार ग्रहण किया। स्कूल ऑफ ओरयंटल स्टडीज तथा लन्दन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में भी वे गये। रेमण्ड के साथ संपर्क के कारण उन्हें इंडियन विलेज पुस्तक लिखने की प्रेरणा मिली। अंग्रेजी और हिंदी के वे श्रेष्ठ वक्ता थे।

उस्मानिया विश्वविद्यालय को छोड़ने के बाद दुबे नागपुर में एन्थ्रोपॉलोजिकल सर्व ऑफ इंडिया के उप निदेशक और उसके बाद सागर विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए। जिस पद पर वे गये वहाँ सक्रिय ही रहे। नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ (रूरल) कम्यूनिटी डवलमेंट के वे सलाहकार रहे। 1975–1976 में वे अखिल भारतीय समाजशास्त्र परिषद् के अध्यक्ष रहे। 1975–1976 में वे जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति थे।

1980–1993 के बीच वे आई.सी.एस.एस.आर. के राष्ट्रीय फेलो तथा यूनेस्को और संयुक्त राष्ट्र संघ में सक्रिय रहे। मध्य प्रदेश के विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के वे अध्यक्ष रहे।

2.7.2 ग्राम अध्ययन

एस. सी. दुबे की पुस्तक 'इंडियन विलेज' (1955) भारतीय समाज के अध्ययनों में एक महत्वपूर्ण योगदान थी। इस पुस्तक में उन्होंने भारतीय समाज का अध्ययन संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य में किया था। इस पुस्तक में ग्रामीण जीवन का सार मौजूद था। इसी पुस्तक के उन्होंने लिखा था कि भारतीय गाँव को समझने के लिये गाँव को संगठित करने वाले विभिन्न इकाइयों का अध्ययन करना चाहिये।

अध्ययन अंतर्वेषयिक था। अध्ययन उस्मानिया विश्वविद्यालय के सोशल सर्विय एक्स्टेन्शन प्रोजेक्ट द्वारा आयोजित था। यह वर्ष 1951–1952 में किया गया था। अध्ययन हैदराबाद से लगभग पच्चीस किलोमीटर दूर शमीरपेट नामक गाँव में किया गया था। गाँव की जनसंख्या 2494 थी, जिसमें 340 मुस्लिम और 19 हिन्दू नृजातीय समूह शामिल थे। ऐतिहासिक, भौगोलिक, समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से तथ्य एकत्रित किये गये थे। भारत के अन्य गाँवों की तरह इस गाँव की आर्थिक और धार्मिक प्रक्रियाओं पर उन्होंने अपना ध्यान केन्द्रित किया।

दुबे ने इस दक्षिण भारतीय ग्राम का 1956 में उसी प्रकार अध्ययन किया था जैसा कि राबर्ट रेडफील्ड ने 1930 में मैक्सिको के एक गाँव का किया था। भारतीय ग्रामीण जीवन की जटिल व्यवस्थाओं का यह विशिष्ट चित्रण था। उन्होंने कहा कि भारत में कोई भी गाँव पूर्ण रूप से स्वायत्त नहीं है। विस्तृत सामाजिक व्यवस्था की यह एक इकाई है तथा संगठित राजनीतिक व्यवस्था का एक अंग है। गाँव में रहने वाला कोई व्यक्ति मात्र ग्राम समुदाय का सदस्य नहीं है, वह जाति, धार्मिक समूह या आदिवासी समूह का सदस्य भी है तथा क्षेत्र में फैले हुए अन्य गाँवों से भी उसका संबंध है। इन इकाइयों के अपने संगठन हैं, अपनी सत्ता है और अपने प्रतिबन्ध हैं।

ग्राम का यह अध्ययन बहुत विस्तृत तथा गंभीर था। ग्रामों पर लिखे गये मोनोग्राफ में से यह पहली रचनाओं में से एक था। उनका मानना था कि भारत में गाँवों में आर्थिक संरचना का संबंध जातिगत व्यवसायों के बहुत नजदीक है। दक्षिण के इस पठार में सामान्य हिन्दू धर्म की प्रथाएँ तथा प्रक्रियाएँ, सारे भारत की तरह यहाँ भी मौजूद थीं। क्षेत्रीय धार्मिक विश्वास भी इसके साथ जुड़े हुए थे। तीन मुख्य आधारों को निम्नलिखित में देखा जा सकता है–

1. पारिवारिक संस्कार।
2. गाँव के पारिवारिक और सामुदायिक उत्सव।
3. इन उत्सवों में हिन्दुओं तथा मुसलमानों की समान रूप से भागीदारी।

ग्रामीण विश्व दृष्टि, समूहों के अंतर्संबंध, जाति प्रवृत्तियाँ और रूढ़िवादी व्यवस्थाएँ सभी कुछ उन्होंने अपने अध्ययनों में शामिल किये। उन्होंने बचपन, युवा तथा वृद्धावस्था जीवन के सभी स्तरों पर सामान्यीकरण प्रस्तुत किये।

शमीरपेठ गाँव के अध्ययन की विशेषताएँ

दुबे ने इंडियन विलेज पुस्तक में शमीरपेठ गाँव की निम्न विशेषताएँ बताई हैं–

1. शमीरपेठ गाँव का यह अध्ययन रेडफील्ड के मैक्सिको गाँव के अध्ययन की तरह है। प्राप्तियाँ भी बहुत कुछ ऐसी ही हैं।
2. कोई भी गाँव पूर्णरूप से स्वायत्त नहीं होता, गाँव की शादियाँ गाँव के बाहर होती हैं, गाँव का व्यवसाय अन्य गाँवों, कस्बों और शहरों के साथ होता है। शमीरपेठ का बाजार एक प्रकार से भूमंडलीय होता है। ऊँची पढ़ाई गाँव से बाहर होती है। किसी भी अर्थ में गाँव अन्य क्षेत्रों से जुड़ा होता है।
3. देश की प्रजातांत्रिक व्यवस्था में गाँव राज्य और देश की राजधानी से जुड़ा होता है। राजनीति के क्षेत्र में तो गाँव कभी भी पृथक नहीं होता।

4. गाँव का कोई भी आदमी गाँव का सदस्य तो होता ही है, गाँव की जाति और विशेष धार्मिक सम्प्रदाय का भी सदस्य होता है।

5. देश की महान परम्पराएँ, गाँव में आकर स्थानीय और संभागीय हो जाती हैं। त्यौहारों और समारोहों की भी यही स्थिति होती है।

6. इस पुस्तक में दुबे ने संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विधि को अपनाया है।

7. दुबे गाँव में होने वाले परिवर्तन की चर्चा भी करते हैं और कहते हैं कि गाँव के लोगों के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर आ गया है।

ग्रामीण अध्ययन – भारत में बदलते गाँव

शमीरपेठ गाँव के अध्ययन के बाद दुबे ने गाँव का एक और अध्ययन प्रस्तुत किया। इसका शीर्षक था इंडियाज चेंजिंग विलेजेज इस अध्ययन में उन्होंने पश्चिमी उत्तर प्रदेश के दो गाँवों का अध्ययन किया। वे इन गाँवों को राजपूत और त्यागी गाँव का नाम देते हैं। बात यह है कि उत्तर भारत में कई गाँव किसी जाति की बहुलता से जाने जाते हैं। जिस गाँव में ब्राह्मणों का वर्चस्व होता है या वे जनसंख्या में अधिक होते हैं. इस गाँव को ब्राह्मण गाँव के नाम से जाना जाता है। कुछ इसी सामान्य धारणा के अनुसार दुबे ने राजपूत और त्यागी गाँवों का अध्ययन रखा है। स्पष्ट है ये दोनों जातियाँ उच्च जातियाँ हैं।

विकास कार्यक्रमों की ग्रामीण परिवर्तन में बड़ी भूमिका होती है। इस पुस्तक को लिखने से पहले दुबे सामुदायिक विकास योजनाओं के प्रशासनात्मक ढाँचे से जुड़ गये थे। उन्होंने देखा कि सामुदायिक विकास योजनाएँ गाँवों की संरचना को बदलने में बड़ा कारण होती हैं। ग्रामीण परिवर्तन इस पुस्तक का केन्द्रीय बिन्दु रहा है।

ग्रामीण अध्ययनों ने दुबे को एक नई विशिष्टता दी। अब वे परिवर्तन के अध्ययन के विशेषज्ञ बन गये। उन्होंने भारत के बदलते गाँवों में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कहीं हैं। इन्हें हम निम्न बिन्दुओं में रखेंगे–

1. हमारी यह धारणा भ्रमपूर्ण है कि भारत के गाँव गतिहीन हैं। कहा जाता रहा है कि भारत में एक के बाद एक लड़ाई होती रहती है। कभी राजपूत और मुगल और कभी मुसलमान और मराठा, लड़ाइयों की कोई कमी नहीं। पर किसान की मेड़ पर घोडे सरपट मारते निकल जाते हैं और किसान है कि आल्हा ऊदल गाने में मग्न है। लड़ाई का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दुबे कहते हैं कि ये तथाकथित गतिहीन जीवन से बाहर निकलना चाहते हैं। उन्हें परिवर्तन स्वीकार है।

2. ग्रामीणों को वे परिवर्तन स्वीकार हैं, जो उनकी रूढ़िगत मान्यताओं को ठेस नहीं पहुँचाते। उदाहरण के लिये गाँव के पशु की नस्ल को सुधारने के लिये सांड उन्हें स्वीकार हैं क्योंकि उनके गाँव में सांड रखने का रिवाज रहा है।

3. जब सामाजिक परिवर्तन ऊँची जातियाँ स्वीकार कर लेती हैं, तब निम्न जातियाँ उसे सहजता से अपना लेती हैं।

2.8 सारांश

1950 और 1960 के दौरान सामाजिक मानवविज्ञानियों द्वारा किए गए भारतीय गाँवों के अध्ययन निस्संदेह रूप से भारतीय सामाजिक विज्ञान के आधार स्तंभ थे। हालाँकि इन अध्ययनों का आरंभिक केंद्र गाँव के लोगों का सामाजिक और धार्मिक जीवन था, तथापि इनमें पर्याप्त संदर्भ ऐसे हैं, जो स्वतंत्र भारत के पहले दो दशकों के दौरान भारत के ग्रामीण समाज में राजनीतिक और आर्थिक जीवन को समझने में उपयोगी संकेत हो सकते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन अध्ययनों से भारतीय गाँवों की प्रबल रूढ़िग्रस्त छवि प्रतिरोध में सहायता मिली और इसे औपनिवेशिक प्रशासकों ने लोकप्रिय बनाया। ग्रामीण जीवन का विस्तृत वर्णनात्मक ब्यौरा व्यापक क्षेत्रीय कार्य के बाद तैयार किया गया, ज्यादातर मामलों मे मानवविज्ञानियों ने स्वयं पूरा कार्य किया और यह सिद्ध किया कि किस प्रकार भारतीय गाँव "एकाकी समाज" नहीं है। ग्रामीण अध्ययन दर्शाता हैं कि भारत के गाँव औपनिवेशिक शासन के नए कृषि विधान आरंभ करने से पहले भी आर्थिक और सामाजिक

रूप से एकीकृत और समृद्ध थे। उन्होंने क्षेत्रीय विभिन्नता को इस प्रकार दर्शाया कि सामाजिक ग्रामीण जीवन देश के विभिन्न भागों में सुव्यवस्थित था।

यद्यपि ग्रामीण अध्ययन असंख्य कारणों से बाधित भी हुआ। प्रतिभागी पर्यवेक्षण जो इन अध्ययनों का प्रमुख संबल था, उसमें भी क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं पर कुछ प्रतिबंध लगाए गए, जो संयोगवश इस तरह सिद्ध हो गया कि इस तरह के अध्ययनों में वे लोग गाँवों की जो छवि प्रस्तुत कर रहे हैं वह आलोचनात्मक है। प्रतिभागी पर्यवेक्षण करते समय जिस गाँव को उस प्रतिभागी ने अध्ययन के लिए चुना था उस गाँव में उसकी पर्याप्त स्वीकृति भी होनी चाहिए थी। एक अलग सामाजिक संदर्भ में स्पष्ट तौर पर प्रभावशाली वर्गों के माध्यम से गाँव में संपर्क बनाना आसान था। यद्यपि इससे यह सिद्ध होता है कि यह एक कामयाब रणनीति थी। गाँव में "समुदाय" के एक सदस्य के रूप में स्वीकृत होने की दुश्चिंता में मानवविज्ञानी के मन में गाँव वालों के प्रति रूढ़िवादी होने की धारणा बनती थी और यह उनके आलेखों में भी प्रकट होता है।

2.9 संदर्भ

- धनागरे, डी0एन0 1995, थीम्स एंड पर्सपेक्टिव इन इंडियन सोशियोलॉजी, रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.
- सिंह वाई 1986, इंडियन सोशियोलॉजी : सोशल कंडीशनिंग एंड एमरजिंग कनसन्सर्स, विकास पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.
- जोशी पी0सी0 1996, 'दि रिमेम्बर्ड विलेज : इनसाइट्स इन ए एग्रेरियन सिविलाइजेशन', ए0एम0 शाह, बी0एस0, बाविस्कर एवं ई0ए0 रामास्वामी (सं0), सोशल स्ट्रक्चर एंड चेंज, खंड–1, थ्योरी एंड मेथड–एन इवैल्यूएशन ऑफ द वर्क ऑफ एम0 एन श्रीनिवास में, नई दिल्ली : सेज.
- खरे, आर0एस0 1996, 'सोशल डिस्क्रिप्शन एंड सोशल चेंज : फ्रॉर्म फंक्शन टु क्रिटिकल कल्चरल सिग्नीफिकेशन्ज', ए0एम0 शाह, बी0एस0 बाविस्कर एवं ई0ए0

रामास्वामी (सं0), सोशल स्ट्रक्चर एंड चेंज, खंड–1, थ्योरी एंड मेथड–एन इवैल्यूएशन ऑफ द वर्क ऑफ एम0 एन श्रीनिवास में, नई दिल्ली : सेज.

- माथुर, नीता 2020, 'द रिमेम्बर्ड एंथ्रोपोलॉजिस्ट : एंगेजिंग विद द इनसाइट्स ऑफ एम0एन0 श्रीनिवास', जर्नल ऑ द एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, 69 (2) : 224–240, 2020.

- शाह ए0एम0 1996, 'एम0एन0 श्रीनिवास : द मैन एंड हिज वर्क', ए0एम0 शाह, बी0एस0 बाविस्कर, एवं ई0ए0 रामास्वामी (सं0) सोशल स्ट्रक्चर एंड चेंज, खंड–1, थ्योरी एंड मेथड–एन इवैल्यूएशन ऑफ द वर्क ऑफ एम0 एन श्रीनिवास में, नई दिल्ली : सेज.

- श्रीनिवास, एम0एन0 1961, चेंजिंग एटिट्यड्स इन इंडिया टुडे', योजना, विशेषांक 1, अक्टूबर, 215–28.

- श्रीनिवास, एम0एन0 1966, सोशल चेंज इन मॉर्डन इंडिया, बर्कली, कैलिफोर्निया : यूनिवर्सिटी कैलिफोर्निया प्रेस.

- श्रीनिवास, एम0एन0 1968, 'मॉबिलिटी इन कास्ट सिस्टम', मिल्टन सिंगर एवं बर्नाड कोहन (सं0), स्ट्रक्चर एंड चेजं इन इंडियन सोसाइटी में, शिकागो : यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस.

- Dube, S.C. 1955, Indian Village, London ˆ Routledge and Kegan Paul.

- Dube, S.C. 1958, India's Changing Villages, London : Routledge and Kegan Pual

- Dube, S.C. 1973, Contemporary India and its Modernization, Delhi : Vikas Publishing House.

- Dube, S.C. 1974, Sociology of Economic Development' in ICSSR : A Survey of Research in Sociology and Social Anthropology, Vol. II.
- Sharma, S. 1985, Sociology in India, Jaipur : Rawat Publications.
- Singh, Yogendra 1983, Indian Sociology', Current Sociology, Vol. 34, No. 2.
- Misra, P.K., K.K. Basa and H.K. Bhat, 2007, M.N. Srinivas : The Man dna His Work, Jaipur : Rawat Pubications.
- Oommen, T.K. and P.N. Mukherji 1986, Indian Sociology : Reflections and Intro-spections, Mumbai, Popular Prakashan.
- Patel, S. 1998, the Nostalgia for the Village : M.N. Srinivas and Making of Indian Social Anthropology, South Asia, Vol. 21, No. 1, pp. 49-61.
- Shah, A.M. et al, 1996, Social Structure and Change, New Delhi : Sage Publications.
- Singh, Yogendra 1986, Indian Sociology, Current Sociology, Vol. 34, No.2.
- Singh, Yogendra 1994, Modernization of Indian Tradition, Jaipur : Rawat Publication.
- Srinivas, M.N. 1952, Religion and Society among the Coorgs of South India, Oxford : Oxford Clarendon Press.
- Srinivas, M.N. 1955, India's Village, Bombay : Asia Publshing House.
- Srinivas, M.N. 1966, Social Change in Modern India, Bombay : Allied Publishers.

इकाई-३ भारत में गाँवो का अध्ययन

इकाई की रुपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 गाँव की सामाजिक संरचना

3.3 गाँव का परिचय और विशेषता

3.4 ए0 आर0 – देसाई के विचार

3.5 आन्द्रे बेत्तई का जीवन परिचय

3.6 आन्द्रे बेत्तई का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

3.7 भारतीय नगरीय समाज

3.8 गाँव के अध्ययन का संक्षिप्त अवलोकन

3.9 जाति, वर्ग और शक्ति का विश्लेषणात्मक परिप्रेक्ष्य

3.10 बोध प्रश्न

3.11 बोध प्रश्न के उत्तर

3.12 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

3.0 उद्देश्य

शाब्दिक दृष्टिकोण से ग्रामीण समाजशास्त्र ग्रामीण (Rural) एवं समाजशास्त्र (Sociology) दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ हुआ, ग्रामीण समाजशास्त्र, समाजशास्त्र की वह शाखा है। जो ग्रामीण जीवन, ग्रामीण समूहों, ग्रामीण जगत एवं ग्रामीण जीवन शैली का वैज्ञानिक अध्ययन करता हैं ।

- गाँव की सामाजिक संरचना को जान सकेंगें
- गाँव का परिचय और विशेषता को समझ सकेंगें
- ए0 आर0 देसाई एव आन्द्रे बेत्तई का जीवन परिचय को जानेंगें
- आन्द्रे बेत्तई का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य को समझ सकेंगें
- जाति, वर्ग और शक्ति का विश्लेषणात्मक अध्ययन करेंगें

3.1 प्रस्तावना

अब तक आप भारत में समाजशास्त्र के उद्‌भव की पृष्ठभूमि, इसके बाद के विकास और संवृद्धि तथा कुछ प्रमुख मुद्दों और अनुसंधान के विषयों के बारे में जान चुके हैं । 1950 और 1960 के दौरान गाँवों का अध्ययन एक मुख्य विचारणीय विषय बना और इस शास्त्र की संवृद्धि और व्यावसायीकरण के दौरान कई निबंध और अभिपत्र प्रकाशित हुए। इस इकाई में आप इस ग्रामीण–अध्ययन के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करेंगे।

मानव के सामूहिक जीवन का प्रथम पालन स्थान गाँव है। मानव ने जब सामूहिक रूप में रहना प्रारम्भ किया तो गाँव ही उसके निवास स्थान रहे। संसार की अधिकांश जनसंख्या आरम्भ से लेकर अब तक गाँवों में ही बसी है। समाजशास्त्र में अध्ययन की सुविधा के लिए समय–समय पर अनेक शाखाओं और उपशाखाओं की स्थापना की गई। आदिम समाजों के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिये सामाजिक मानवशास्त्र की स्थापना की गई । समाज से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक पक्ष का गहन अध्ययन करने के लिए सामाजिक मनोविज्ञान एक

विशिष्ट विषय के रूप में विकसित हुआ। इसी क्रम में ग्रामीण समाजों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण विशिष्ट, गहन एवं सारगर्भित अध्ययन करने के लिए ग्रामीण समाजशास्त्र विषय की स्थापना की गई। ग्रामीण समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण समाजों का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से अध्ययन करके इन समाजों को सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना, प्रकार्य और उनमें होने वाले परिवर्तनों का गहन अध्ययन करना व उनसे सम्बन्धित समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण करना है।

3.2 गाँव की सामाजिक संरचना

परिवार लगभग सभी समाजों की मूल इकाई है। यह भारत में विशेष रूप से सच है जहां किसी व्यक्ति की पहचान उसकी और उसके परिवार की स्थिति और सामाजिक स्थिति पर निर्भर है। परिवार सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है जो ग्रामीण समाज का गठन करती है। यह जरूरतों को पूरा करता है और कार्य करता है, जो सामाजिक व्यवस्था में निरंतरता, एकीकरण और परिवर्तन के लिए आवश्यक हैं, जैसे कि, प्रजनन, उत्पादन और समाजीकरण। मोटे तौर पर दो प्रकार के परिवार हैं "एकाकी परिवार जिसमें पति, पत्नी और अविवाहित बच्चे शामिल हैं", और संयुक्त या विस्तारित परिवार में एकाकी प्रकार की तुलना में कुछ अधिक परिजन शामिल हैं।

परिवार संयुक्तता के महत्वपूर्ण आयाम हैं साथ साथ रहना, संयुक्त सम्पत्ति, सहभोजन, पीढ़ीगत जुड़ाव (तीन पीढ़ी तक), और परिजनों और भावुक पहलू के प्रति दायित्व की पूर्ति। साथ–साथ रहना का मतलब है कि एक परिवार के सदस्य एक ही छत के नीचे रहते हैं। सहभोजन का तात्पर्य है कि वे एक साथ भोजन करते हैं यानी, एक सामान्य रसोईघर है। संयुक्त सम्पत्ति का मतलब है कि उनके पास संपत्ति का संयुक्त स्वामित्व है। यानी दादा, पिता और पुत्र या अधिक शामिल हैं। परिवार के सदस्यों के भी अपने परिजनों के प्रति दायित्व होते हैं। इसके अलावा, उन्हें संयुक्त परिवार के आदर्श के लिए एक भावुक लगाव है।

3.3 गाँव का परिचय और विशेषता

भारत एक ऐसा देश है जहाँ अधिकांश आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। 2011 की जनगणना के अनुसार, देश में 640,887 गांव हैं। इनमें से ज्यादातर गाँवों में 1000 से कम निवासी हैं। यहां यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि हाल के समय में भी, 31 प्रतिशत नगरी निवासियों की तुलना में 69 प्रतिशत से अधिक लोग गाँवों में रहते हैं। इसलिए, हम कह सकते हैं कि भारत गाँवों का देश है। जैसा कि गाँव ग्रामीण समाज की मूल इकाई है और भारतीय आबादी का अधिकांश हिस्सा ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है, भारतीय समाज की बेहतर समझ रखने के लिए आपको भारतीय गाँवों की मूल विशेषताओं, उनके विकास, उनकी प्रकृति और संरचना, संस्कृति और ग्रामीण जीवन पद्धति की व्याख्या करना अनिवार्य है। गाँव, मानव की ये श्रेणियां जिसमे, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उद्देश्यों के लिए एक दूसरे पर निर्भर हैं। बहुत बार गाँव के लोग नई आजीविका और व्यवसायों की तलाश में नगरों और नगरों की ओर पलायन करते हैं। ग्रामीण अपने कृषि उत्पादों को पास के कस्बों और नगरों में बेचते हैं और आवश्यक वस्तुओं को खरीदते हैं, जिन्हें वे खुद नहीं उगा सकते हैं और न ही पैदा कर सकते हैं। वे कई वस्तुओं और सेवाओं के लिए कस्बों और नगरों पर निर्भर हैं। नगरवासी सब्जियों, खाद्यान्नों, दूध, मानव श्रम आदि जैसे खाद्य उत्पादों के लिए गाँवों पर निर्भर हैं। यह उल्लेख करने वाली बात है कि मानव बंदोबस्त की श्रेणियां गाँव और नगर पर कच्चे माल के लिए एक दूसरे पर निर्भर हैं। और नगर अन्य सुसज्जित वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिन्हें उच्च प्रौद्योगिकी और अधिक संगठन की आवश्यकता होती है। इसलिए, वे सभी एक दूसरे पर निर्भर हैं लेकिन कुछ विशिष्ट विशेषताएं हैं जो उन्हें एक दूसरे से अलग करती हैं। इस इकाई में हम मानव बस्तियों की इन तीन श्रेणियों की विशेषताओं के बारे में चर्चा करेंगे गाँव, नगर और कस्बा। इससे छात्रों को इन श्रेणियों की स्पष्ट समझ हो सकेगी।

भारत को गाँवों का देश कहा जाता है भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का आधार यहाँ के गाँव ही रहे है। हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों, वेदों, पुराणों, स्मृतियों एवं संहिताओं में ग्रामीण जीवन के विभिन्न पलों पर विस्तार से चर्चा मिलती है रचनाकारों एवं कवियों ने

ग्रामों की अपने साहित्य में प्रशंसा की है तथा उनकी स्वर्ग से तुलना की है। किन्तु पिछली दो शताब्दियों में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएं घटी जिससे गाँवों का प्राचीन स्वरूप बदल गया। औद्योगीकरण, नगरीकरण व यातायात के विकसित साधनों ने ग्रामीण जीवन को प्रभावित किया और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी गाँव परावलम्बी हो गये। सुसंगठित गाँवों में विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई, लोग नगरीय चमक एवं सुविधाओं की ओर आकर्षित हुए और गाँव छोड़कर शहर की और पलायन होने लगे। गाँवों में गरीबी, बेकारी, ऋणग्रस्तता एवं कृषि से सम्बन्धित अनेक समस्याओं ने जन्म लिया। अंग्रेजी शासन काल में गाँवों की बिगड़ती दशा पर कोई ध्यान नहीं दिया गया और गाँव की हालत बद से बदतर होती गयी।

3.4 ए0 आर0 देसाई का जीवन परिचय

अक्षय रमनलाल देसाई का जन्म 16 अप्रैल, 1915 को गुजरात के नडियाद नामक शहर में हुआ था उनके पिता रमनलाल वसंतलाल देसाई सन 1920 के और 1930 के दशक में बड़ौदा रियासत में एक प्रशासनिक अधिकारी थे। वह एक प्रसिद्ध साहित्यकार भी थे, जिन्होंने सन 1930 के दशक में अपने लेखन से युवाओं को प्रेरित किया। डॉ० ए० आर० देसाई ने अपनी प्रतिष्ठित पुस्तक 'Rural Sociology in India' में ग्रामीण समाजशास्त्र की परिभाषा न प्रस्तुत करके इसके उद्देश्यों को स्पष्ट किया है–

1. ग्रामीण पर्यावरण में मानवीय सम्बन्धों का अध्ययन ग्रामीण समाजशास्त्र करता है ।
2. ग्रामीण समाजशास्त्र के अन्तर्गत ग्रामीण सामाजिक प्रक्रियाओं एवं अन्तःक्रियाओं, ग्रामीण सामाजिक संरचना,ग्रामीण समूहों, एवं संगठन आदि का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है।
3. ग्रामीण समाजशास्त्रीय सम्पूर्ण ग्रामीण जीवन का ही विज्ञान है।
4. यह केवल सैद्धान्तिक ज्ञान ही नहीं वरन् ग्रामीण समस्याओं के निराकरण, ग्रामीण पुनर्निर्माण और उत्थान में व्यावहारिक योगदान देने वाला विज्ञान भी है।

ए0 आर0 देसाई के विचार आपने ग्रामीण समाजशास्त्र के क्षेत्र के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचारों का अध्ययन करने के बाद निम्न विचार व्यक्त किए हैं, सभी एक मत से घोषणा करते हैं कि ग्रामीण समाजशास्त्र का प्रमुख लक्ष्य ग्रामीण सामाजिक संगठन, उसकी संरचना, प्रकार्य और विकास की वस्तुपरक प्रवृत्ति का वैज्ञानिक व्यवस्थित और व्यापक अध्ययन करके इसके विकास के नियमों की खोज करना है।

मजदूर संघों, किसान सभाओं, छात्र संघों, महिला संगठनों और सांस्कृतिक एवं साहित्यिक मंचों से लेकर लोगों के संगठनो की संख्या बढ़ रही थी, जो कि सभी एक सशक्त उपनिवेशवाद–विरोधी चेतना से ओत–प्रोत थे। इन सभी विभिन्न मंचों पर कांग्रेस, समाजवादियों और साम्यवादियों से लेकर विभिन्न राजनीतिक दलों व शक्तियों ने भिन्न–भिन्न समयबिंदुओं पर एक साथ काम किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि विविध और कभी–कभी अपसारी दृष्टिकोणों को देखते हुए विभिन्न संगठनों में संयुक्त रूप से काम करने का प्रयास सरल नहीं था तथापि, अलगाववाद के प्रतिकूल पहलुओं के बावजूद राष्ट्रीय आंदोलन की एक उल्लेखनीय विशेषता इसकी समग्रता रही। फिर भी सन 1930 के दशक के अंत और 1940 के दशक की शुरुआत में देश पर विभाजन की अनिष्टसूचक छाया देखी गई, जो कि शीघ्र ही एक विकट और भयावह वास्तविकता बनने वाली थी और साथ ही लाने वाली थी पंजाब और बंगाल में आपसी विवाद को उक्त सभी बातों के आलोक में यह किसी भी संवेदनशील युवा के लिए चुनौतीपूर्ण समय था।

देसाई साम्यवादी आंदोलन में शामिल हो गए और वर्ष 1934 में कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गए। बहरहाल, पाँच साल की संक्षिप्त अवधि के बाद ही उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ दी क्योंकि पार्टी के नौकरशाही ढाँचे से उनका दम घुटने लगा था। इससे भी महत्वपूर्ण बात, उन्होंने वर्ष 1939 में सोवियत संघ पर नाजी जर्मनी द्वारा हमला किए जाने पर भारत में ब्रिटिश युद्ध के प्रयासों के समर्थ न के संबंध मे पार्टी के रुख में बदलाव का विरोध किया। अंतोगत्वा वर्ष 1939 में उन्होंने पार्टी से त्यागपत्र दे दिया। देसाई उस समय काम कर रही विभिन्न शक्तियों और भारतीय समाज की मूल संरचना में औपनिवेशिक नीतियों द्वारा लाए गए परिवर्तनों का विश्लेषण करते हैं । वह राष्ट्रवाद को एक ऐतिहासिक श्रेणी के

रूप मे देखते हैं, यथा एक ऐसी आधुनिक परिघटना जो इतिहास के एक बिंदु विशेष पर अस्तित्व में आती है। भारत में यह वस्तुपरक कारकों और व्यक्तिपरक कारकों के संयोजन के परिणामस्वरूप उस समय विकसित हुआ जब भारतीय लोग ब्रिटिश साम्राज्य के राजनीतिक प्रजाजन थे। हालाँकि भारतीय राष्ट्रवाद की प्रारम्भिक उत्तेजना उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ मे ही दिखाई पड़ने लगी थी।

देसाई का विचार पूँजीवाद–पूर्व भारतीय सामाजिक संरचना की विशिष्टता का देश की जाति व्यवस्था के साथ ही उजागर करने का भी था। उन्होंने भूमि में निजी संपत्ति के अभाव वाले उस 'आत्मनिर्भ समुदाय की प्रकृति पर प्रकाश डाला जो ब्रिटिश–पूर्व भारत में कृषि व्यवस्था का प्रमुख घटक हुआ करता था। उन्होंने कृषि के रूप–परिवर्तन, शहरी हस्तशिल्प की अवनति और ग्रामीण कारीगर उद्योगों के पतन एवं विनाश संबंधी सामाजिक परिणामों को भी दर्शाया 'ये गाँव के शिल्प उद्योग ही थे जिन्होने गाँव की आर्थिक निरंकुशता के औद्योगिक स्तंभ का गठन किया, जबकि दूसरा स्तंभ आत्मनिर्भर ग्रामीण कृषि था। देसाई के अनुसार, विकास के मार्ग का चुनाव स्पष्ट था, यथा यह पूँजीवादी औद्योगीकरण बनाम समाजवादी औद्योगीकरण था। उनका तर्क है कि दोनों के बीच का कोई स्पष्ट अंतर होना आवश्यक है क्योंकि इसके परिणाम गुणात्मक रूप से भिन्न प्रकार के सामाजिक, संस्थागत, वैचारिक एवं सांस्कृतिक प्रतिमान और तदनुसार एक प्रकार के समाज के संरचनात्मक प्रतिमान ज्ञात होंगें।

देसाई की एक प्रमुख चिंता जो उनके पूरे काम में लगातार दोहराई जाती रहती है, वह है विकास का मार्ग। वह इस प्रश्न को ऐसे विभिन्न प्रकार के मुद्दों से जोड़ते हैं जिनका सामना देश ने स्वातंत्र्योत्तर अवधि में किया था उनका प्रमुख आलोचनात्मक लेख 'आधुनिकीकरण सिंड्रोम' संबंधी रहा है, यथा एक पूँजीवादी पथ व उसके समर्थकों, विशेष रूप से वे शिक्षाविद एवं सामाजिक वैज्ञानिक जो इसे 'एक वांछनीय मूल्य आधार वाक्य' के रूप में देखते हैं, के साथ विकास उनकी दो पुस्तकें स्टेट एंड सोसाइटी इन इंडिया (1975) और भारत इंडियाज़ पाथ आफ डेवलपमेंट (1984) में विकास और भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति पर उनके लेखन शामिल हैं। स्टेट एंड सोसायटी इन इंडिया में उन्होंने

आधुनिकीकरण की विचारधारा के अंतर्निहित मानयाताओं की आलोचनात्मक जाँच की उस आधुनिकीकरण अभिधारणा में अंतर्निहित मान्यताओ को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं जिसे अकादमिक प्रमाणीकरण से प्रतिपादित किया गया था और जिसने विस्तारशील शैक्षिक तंत्र में पाठ्यक्रम की विषय–वस्तु को आकार दिया था उनका प्रसिद्ध शोध–प्रबंध 'ट्रेडिशन–मॉडर्निटी' आधुनिकीकरण अभिधारणा का एक महत्वपूर्ण घटक था, जिसने मुख्यधारा के शिक्षाविदों के बीच प्रभाव डाला और जिसने राज्य द्वारा अपनाए गए विकास के पूँजीवादी मार्ग को वस्तुतः छलावरण पहनाया था

3.5 आन्द्रे बेत्तई का जीवन परिचय

आन्द्रे बेत्तई का जन्म सितंबर 1934 में चंदनगोर शहर में हुआ था, जो उस समय फ्रांसीसी शासन के अधीन था तीन भाइयों और एक बहन में सबसे छोटे थे। इनके पिता फ्रांसीसी थे और चंदननगर नगर पालिका के मेयर थे इस प्रकार, वह एक फ्रांसीसी वंश है और कई मायनों में एक सर्वोत्कृष्ट बंगाली भद्रलोक है जिसकी माँ और दादी बंगाली हैं। उन्होंने उन पर गहरी छाप छोड़ी इसके अलावा, वह बंगाल में पले–बढ़े, अपने स्कूल के वर्षों का एक हिस्सा और अपने सभी कॉलेज और विश्वविद्यालय के दिन कलकत्ता में बिताए वह अंग्रेजी की तरह बांग्ला में भी उतने ही सहज हैं उन्हें यूरोपीय, विशेषकर अंग्रेजी, साहित्य का गहन ज्ञान था कम ही लोग जानते हैं कि आन्द्रे बेत्तई रबींद्रनाथ टैगोर के गीतों के अच्छे गायक भी थे। 1946 में कलकत्ता जाने से पहले आन्द्रे बेत्तई ने चंदननगर और पटना के एक बोर्डिंग स्कूल में पढ़ाई की उनकी उच्च शिक्षा कलकत्ता में हुई, जहाँ आजादी के बाद परिवार स्थानांतरित हो गया उन्होंने कलकत्ता के सेंट जेवियर्स कॉलेज से स्नातक की उपाधि प्राप्त की उन्होंने अपनी पढ़ाई भौतिकी के छात्र के रूप में शुरू की, लेकिन आधे समय में एन0 के0 बोस से प्रेरित होकर मानवविज्ञान में चले गए, जो बाद में उनके पहले बौद्धिक गुरु बने उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से मानव विज्ञान में ऑनर्स किया और एम. एस.सी. भी पूरा किया। एक ही विश्वविद्यालय से. एक रिसर्च फेलो के रूप में भारतीय सांख्यिकी संस्थान में एक संक्षिप्त कार्यकाल के बाद, उन्होंने डिग्री पाठ्यक्रम पढ़ाना शुरू

कर दिया और कुछ ही समय बाद दिल्ली में समाजशास्त्र विभाग खोला गया और एक प्रमुख विभाग के रूप में उभर रहा था, इसलिए आन्द्रे बेत्तई समाजशास्त्र में व्याख्याता के रूप में वहां चले गए और पीएचडी के लिए शोध शुरू किया एम0 एन0 श्रीनिवास के अधीन जो उस समय विभाग के प्रमुख थे।

आन्द्रे बेत्तई ने अपना करियर सामाजिक स्तरीकरण और समानता और सार्वभौमिकता के प्रश्नों के विशेषज्ञ के रूप में शुरू किया। 1990 से उन्होंने उदारवादी दर्शन और गरीबी तथा सामाजिक अन्याय से उत्पन्न मुद्दों में गहरी रुचि लेना शुरू कर दिया। वह पहले भारतीय समाजशास्त्री हैं जिन्होंने जॉन रॉल्स के सिद्धांतों की प्रासंगिकता को देखा और सकारात्मक भेदभाव पर नीतियों की उलझन को सुलझाने के लिए अपने विचार को रचनात्मक रूप से लागू किया।

हालाँकि, यह सब अभी भी सामाजिक स्तरीकरण के दायरे में है आन्द्रे बेत्तई एन0 के0 बोस से प्रभावित थे. उनके पास श्रीनिवास की यादें हैं जिन्होंने फील्डवर्क के महत्व पर जोर दिया था। द स्ट्रक्चर ऑफ हिंदू सोसाइटी पर बोस का महत्वपूर्ण कार्य ड्यूमॉन्ट और पोकॉक के अधिकांश कार्यों का पूर्वाभास देता है; वह एक महान क्षेत्रीय कार्यकर्ता थे और आदिवासी लोगों के साथ रहते थे और उन्होंने शास्त्रीय ग्रंथों के साथ संयुक्त नृवंशविज्ञान अवलोकन के मूल्य को दिखाया। बेत्तई ने बोस और श्रीनिवास के बीच मतभेदों को भी देखा।

आन्द्रे बेत्तई दिल्ली विश्वविद्यालय में दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में समाजशास्त्र के एमेरिटस प्रोफेसर थे अपने लंबे और प्रतिष्ठित करियर में, उन्होंने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय, शिकागो विश्वविद्यालय और लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में पढ़ाया है। वह कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय, लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स, विश्वविद्यालय, बर्कले में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय और बर्लिन के उन्नत अध्ययन संस्थान में समाजशास्त्र के एमेरिटस प्रोफेसर भी रहे कम उम्र में ही उन्हें भारत और विदेश के कई विश्वविद्यालयों से कई पुरस्कार और फ़ेलोशिप प्राप्त हुईं। वह पहले नेहरू फेलो थे। कोई यह भी जोड़ सकता है कि 1992 में समाजशास्त्र के क्षेत्र में उनके उच्च विद्वतापूर्ण योगदान के सम्मान में उन्हें

ब्रिटिश अकादमी के फेलो के रूप में चुना गया था, एक ऐसा गौरव जो शायद ही किसी भारतीय और वह भी एक समाजशास्त्री को मिलता है।

आन्द्रे बेत्तई ने नॉर्थ–ईस्टर्न हिल यूनिवर्सिटी के चांसलर और भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद के अध्यक्ष के रूप में काम किया है। 2005 में, समाजशास्त्र के क्षेत्र में उनके काम और राष्ट्र के प्रति उनकी विशिष्ट सेवा के लिए, उन्हें भारत के राष्ट्रपति द्वारा पद्म भूषण से सम्मानित किया गया था। उसी वर्ष उन्हें प्रधान मंत्री के राष्ट्रीय ज्ञान आयोग के सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया था, जिसे उन्होंने 2006 में जाति–आधारित आरक्षण बढ़ाने के प्रस्ताव के विरोध में छोड़ दिया था। उसी वर्ष, उन्हें राष्ट्रीय प्रोफेसर बनाया गया, और वर्तमान में वह सेंटर फॉर स्टडीज़ इन सोशल साइंसेज, कोलकाता के अध्यक्ष हैं।

3.6 आन्द्रे बेत्तई का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

आन्द्रे बेत्तई का महत्वपूर्ण योगदान स्थानीय अवधारणाओं और समझ, जैसे जाति और वर्ग, पदानुक्रम और समानता, और असमानता, स्तरीकरण और न्याय के अधिक सार्वभौमिक और सामान्यीकृत सिद्धांतों को प्रासंगिक बनाना रहा है। उनके कार्य सार्वभौमिक श्रेणियों और अवधारणाओं पर आधारित हैं। वह हमेशा उन्हें अनुभवजन्य जमीनी हकीकत के संदर्भ में रखते हैं। बेत्तई की वेबर से निकटता स्वाभाविक रूप से मार्क्स से उनकी दूरी का भी संकेत देती है एक विद्वान जिसका वे सम्मान करते थे लेकिन दूर से वह उदार सिद्धांत और सामाजिक नीति में इसके अनुप्रयोग पर भारत के सबसे प्रसिद्ध विद्वान हैं। तुलनात्मक पद्धति की कठिनाइयों और सीमाओं से अवगत होने के बावजूद, वह अभी भी इसका प्रभावी ढंग से उपयोग करने में सक्षम है। इस प्रकार, वह विचारों और हितों की अवधारणा को परिष्कृत करते हैं, और किसान की मध्यस्थ श्रेणी के माध्यम से जनजाति और जाति की समानता और परस्पर निर्भरता का विश्लेषण करते हैं।

3.7 भारतीय नगरीय समाज

भारतीय नगरीय समाज पर आन्द्रे बेत्तई के लेखन से यह स्पष्ट धारणा मिलती है कि यदि भारत उदार लोकतंत्र के भीतर संभावनाओं पर जोर देकर नागरिकता का पर्याप्त एहसास कर सकता है, तो वह अकेले ही कई क्रांतियों के योग्य होगा। नगरीय समाज और संस्थागत कल्याण अनुभाग में वह नगरीय समाज की समझ में धर्मनिरपेक्षता का संदर्भ देते हैं और सार्वजनिक संस्थानों की स्वायत्तता का आग्रह करते हैं। आन्द्रे बेत्तई नव–तर्कवादियों के खिलाफ एक अकेली आवाज है, जो अतीत की निराशाजनक याद दिलाने में नहीं बल्कि राज्य और मध्यवर्ती संस्थानों की सांप्रदायिक राजनीति से स्वायत्तता हासिल करने में लगी हुई है।

3.8 गाँव के अध्ययन का संक्षिप्त अवलोकन

आन्द्रे बेत्तई अपने अनुभवों को कलकत्ता में अपने बचपन की यादों और भारत के शहरों और ग्रामीण इलाकों में ब्राह्मण व्यवहार के बीच विरोधाभासों से जोड़ते हैं। उन्होंने तंजौर में विधवाओं के बीच इसी तरह के व्यवहार को देखा उन्हें जातियों के बीच संबंधों से आश्चर्य हुआ जो कलकत्ता या दिल्ली की तुलना में कहीं अधिक औपचारिक थे। बेत्तई भारत के तंजौर में अपने फील्डवर्क और उन चीजों के बारे में बात करते हैं जिन्होंने उन्हें सबसे ज्यादा आश्चर्य चकित और दिलचस्पी दिखाई है।

आन्द्रे बेत्तई ने 1961–62 में दक्षिण भारत के तमिलनाडु के तंजौर गांव (श्रीपुरम, गांव का वास्तविक नाम नहीं) में जाति, वर्ग और शक्ति पर अपना अध्ययन किया उन्होंने करीब दस महीने तक गांव में फील्डवर्क किया । यह एक सूक्ष्म–अनुभवजन्य अध्ययन था जिसने 1971 में जाति, वर्ग और शक्ति शीर्षक से इसके प्रकाशन के बाद कई चर्चाएँ उत्पन्न कीं। एफजी बेली, एड्रियन मेयर और मैककिम मैरियट द्वारा ग्राम अध्ययन की पिछली किताबें जाति संरचना पर आधारित थीं जबकि बेत्तई के काम में वर्ग और शक्ति संरचना को जोड़ा गया था। और उन्होंने इन तीनों के बीच बदलते संबंधों और भारत में ग्रामीण स्तरीकरण प्रणाली में बदलाव लाने वाली ताकतों की जांच की जैसा कि शुरू से ही जोर दिया गया है, परिवर्तन आज श्रीपुरम की सामाजिक संरचना की एक मूलभूत विशेषता है। बेत्तई जाति, वर्ग

और सत्ता नामक तीन प्रणालियों में परिवर्तन की इस प्रक्रिया को समझने की कोशिश करते हैं। वास्तव में, जाति, वर्ग और सत्ता आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। उन्हें अलग–अलग और विशेष रूप से अंतिम दो को, केवल अमूर्तन की प्रक्रिया द्वारा ही माना जा सकता है। जाति, वर्ग और शक्ति अलग–अलग तरीकों से सामाजिक स्तरीकरण की घटना को संदर्भित करते हैं। जाति और वर्ग कुछ मामलों में एक–दूसरे से मिलते–जुलते हैं और कुछ मामलों में भिन्न होते हैं।

आन्द्रे बेत्तई ने तंजौर जिले के श्रीपुरम गांव की जाति संरचना पर भी जोर दिया, जो पारंपरिक रूप से बहुत जटिल और रूढ़िवादी जिला था। पूरा गाँव विभिन्न जातियों में विभाजित था, जिनमें तीन मुख्य वर्ग शामिल हैं, ब्राह्मण, गैर–ब्राह्मण और आदि–द्रविड़ (अछूत) जाति व्यवस्था एक सतत प्रक्रिया है और पहचान योग्य भी है । इसे पारंपरिक भारतीय समाज में कानूनी और धार्मिक दोनों तरह की मंजूरी प्राप्त है । विभिन्न जातियों को न केवल आर्थिक मामलों में, बल्कि सामाजिक घटनाओं की एक विस्तृत श्रृंखला में अलग–अलग भूमिकाएँ सौंपी जाती हैं। पारंपरिक समाज में सज़ा न केवल किए गए अपराध की प्रकृति के अनुसार, बल्कि अपराधी की जाति के अनुसार भी भिन्न होती है । आन्द्रे बेत्तई ने विश्लेषण की एक योजना के रूप में इसकी उपयोगिता की जांच करते हुए भारतीय समाज के जाति मॉडल की बुनियादी विशेषताओं को रेखांकित किया है।

3.9 जाति, वर्ग और शक्ति का विश्लेषणात्मक परिप्रेक्ष्य

जाति और वर्ग कुछ मामलों में एक–दूसरे से मिलते–जुलते हैं और कुछ मामलों में भिन्न होते हैं। यह सच है कि कानून के समक्ष असमानताएं, जो विभिन्न जातियों से जुड़ी थीं, पिछले सौ वर्षों के दौरान पूरी तरह से या लगभग समाप्त हो गई हैं। फिर भी, मन की पुरानी आदतें, कानूनी और धार्मिक संरचना से प्रेरित होकर, जिसने सदियों से इन असमानताओं को कायम रखा, समकालीन समाज में जातियों के बीच संबंधों में भूमिका निभाती रहती हैं। उत्पादन के साधनों के स्वामित्व या गैर–स्वामित्व के संदर्भ में परिभाषित सामाजिक वर्ग, कुछ व्यापक विभाजनों तक सीमित हो जाते हैं। श्रीपुरम की कृषि सामाजिक

संरचना के संदर्भ में वर्ग पदानुक्रमित रूप से व्यवस्थित सामाजिक श्रेणियां हैं, जो मोटे तौर पर उत्पादन के साधनों के स्वामित्व या गैर–स्वामित्व पर आधारित हैं।

इस प्रकार, बटाईदारों और खेतिहर मजदूरों के बीच अंतर किया जाता है। इसके अलावा, किराएदार किसान, किसान, बटाईदार और खेतिहर मजदूर केवल वैचारिक स्तर पर अलग–अलग श्रेणियां बनाते हैं। वास्तव में, उनमें अलग–अलग समूह शामिल नहीं हैं, क्योंकि यह अक्सर पाया जाता है कि एक ही व्यक्ति किराएदार और किसान, बटाईदार और खेतिहर मजदूर होता है।

बेतेइले श्रीपुरम गांव में सत्ता की व्यवस्था का विश्लेषण करते हैं। गाँव में जाति और वर्ग दोनों होते हैं। सत्ता का वितरण, फिर से, एक पदानुक्रम बनाता है जो जाति और वर्ग के पदानुक्रम से भिन्न होता है। जाति और वर्ग की व्यवस्था में भी एक प्रकार की शक्ति होती है। सत्ता का एक पहलू संस्थागत और औपचारिक है जो राजनीतिक दलों और पंचायतों के माध्यम से हासिल किया जाता है। उदाहरण के लिए, जो राजनीतिक दल सरकार में होता है उसके पास अधिक शक्ति होती है। गाँव की जाति, वर्ग और समूहों की शक्ति गाँव के बाहर भी व्याप्त है । बेतेइल गाँव के सामाजिक स्तरीकरण को गाँव की जाति, वर्ग और शक्ति के संदर्भ में देखते हैं।

स्वतंत्रता के बाद सत्ता के वितरण ने बहुत गतिशील स्वरूप प्राप्त कर लिया है। कुछ मायनों में जाति और सत्ता के बीच पारंपरिक संबंध उलट गया है। जहाँ अतीत में सत्ता ब्राह्मणों के हाथों में केंद्रित थी, वहीं आज, ग्राम पंचायत पर गैर–ब्राह्मणों का नियंत्रण है और पारंपरिक अभिजात वर्ग को पृष्ठभूमि में धकेला जा रहा है। सत्ता भी पहले की तुलना में काफी हद तक स्वतंत्र वर्ग बन गयी है। सत्ता हासिल करने में जमीन का स्वामित्व अब निर्णायक कारक नहीं रह गया है। पार्टी मशीनरी में संख्यात्मक समर्थन और रणनीतिक स्थिति एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वयस्क मताधिकार और पंचायती राज ने ग्रामीण समाज में नई प्रक्रियाएँ शुरू की हैं। सत्ता के लिए संघर्ष एक व्यापक घटना बन गई है। यह आंशिक रूप से इस तथ्य के कारण हो सकता है ।

3.10 बोध प्रश्न

1. गाँव का परिचय और विशेषता ।
2. ए0 आर0 देसाई का जीवन परिचय लिखिए ।
3. आन्द्रे बेत्तई का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य बताए ।
4. जाति, वर्ग और शक्ति का विश्लेषण कीजिये ।

3.11 बोध प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न 1 का उत्तर देखे सारणी संख्या 3.3

बोध प्रश्न 2 का उत्तर देखे सारणी संख्या 3.4

बोध प्रश्न 3 का उत्तर देखे सारणी संख्या 3.6

बोध प्रश्न 4 का उत्तर देखे सारणी संख्या 3.9

3.12 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- देसाई, ए. आर., 1960, रीसेंट ट्रेंड्ज इन इंडियन नेशनलिज्म , बम्बई पॉपुलर प्रकाशन।
- देसाई, ए. आर., 1976, सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, बम्बई पॉपुलर प्रकाशन।
- बेते, ए. 1980 द इंडियन विलेज : पास्ट एंड प्रेजेंट इन ई.जे. हॉब्सबॉन एवं अन्य संपा. पीजेंट्स इन हिस्ट्री : एस्सेज इन ऑनर ऑफ डेनियल थॉर्नर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कोलकाता

- देसाई, ए. आर., 1984, इंडियाज पाथ ऑफ डेवलपमंटे ए मार्क्सिस्ट अप्रोच, बम्बई ए. पॉपुलर प्रकाशन।
- सावुर मनोरमा एंड मुशी (संपादित) 1995, कोन्ट्राडिक्शन्स इन इंडियान सोसायटी, इसैस इन ऑनर ऑफ प्रो. ए. आर. देसाई, जयपुर, रावत पब्लिकेशंस
- बेते, ए. 1975 ट्राइब्यूलेशंस ऑफ फील्डवर्क इन ए. बेटली और टी.एन. मदन संपादक एनकांटर्स एंड एक्सपीरिएंस पर्सनल एकाउंट्स ऑफ फील्डवर्क, विकास, दिल्ली ।
- कोहन, बी.एस. 1987 एन एंथ्रोपोलोजिस्ट अमंग हिस्टोरियन एंड अदर ऐसेज ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

इकाई-४ भारत का समाजशास्त्र एवं भारतीयकरण

इकाई की रूपरेखा

4.0 प्रस्तावना

4.1 भारतीय समाजशास्त्र का ऐतिहासिक आधार

4.2 भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र का विकास

4.3 भारत में समाजशास्त्र संदर्भीकरण व भारतीयकरण

4.4 भारत का समाजशास्त्र

4.5 स्वतन्त्रतापूर्व समाजशास्त्र

4.6 प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों की दृष्टि और सोच

4.7 स्वातंत्र्योत्तर अवधि में समाजशास्त्र

4.8 70–80 के दशक में समाजशास्त्र विकास

4.9 नब्बे के दशक के प्रस्ताव

4.10 वर्तमान स्थिति एवं नये अभिमुखीकरण

4.11 भारत में समाजशास्त्र का शिक्षण

4.12 पाठ्य व सन्दर्भ

4.13 सन्दर्भीकरण व देशीय क्षेत्रों के प्रयोग

4.14 भारत में समाजशास्त्रीय शोध संकट की स्थिति

4.15 संभावित समाजशास्त्रीय विमर्श

4.0 प्रस्तावना

समाजशास्त्र औद्योगीकरण तथा पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई सामाजिक परिस्थितियों की देन है। समाजशास्त्र, जो भारत में सामाजिक मानव विज्ञान से निकटता से जुड़ा हुआ है, विश्व के दूसरे हिस्सों की तरह इस देश में भी अपेक्षाकृत ठीक ढंग से परिभाषित अध्ययन क्षेत्र नहीं है। हर विषय के शोध कार्य एवं सिद्धांतों में पश्चिमी प्रभाव रहा हैं और ये समाजशास्त्र के साथ भी हुआ है। प्रत्यक्षवाद, उसके आलोचनात्मक सिद्धांत, मार्क्सवाद, संरचनावाद आदि सिद्धाँतो के द्वारा भारत में समाजशास्त्री हमेशा से प्रभावित रहे हैं। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र के आंतरीकरण एवं स्थानीयकरण का मुद्दा महत्वपूर्ण हो जाता है। अटल (2003) ने कहा है कि अधिकतर देशों में समाज विज्ञान के स्थानीयकरण हेतु कई महत्वपूर्ण कदम उठाये गये तथा उपनिवेशकाल के पश्चात् सामाजिक विज्ञान की संरचना के पुनर्परीक्षण की आवश्यकता का अनुभव किया गया। यह इकाई संरचनात्मक पृष्ठभूमि में यह समझने का प्रयास है कि भारत में समाजशास्त्र कैसे विकसित हुआ। भारत का समाजशास्त्र और उसका भारतीयकरण किस तरह किया जा सकता है। वर्तमान ईकाई में भारत के समाजशास्त्र के विकास पर न केवल जोर है, अपितु उसका मूल्यांकन भी है। वर्तमान में क्या नयी प्रवृत्तियाँ उभरी है, कौन सी दिशायें उभर सकती है और किन मुद्दों पर हमें विशेष ध्यान देना चाहिए तथा शिक्षण और शोध के लिए क्या करने की आवश्यकता है?

4.1 भारतीय समाजशास्त्र का ऐतिहासिक आधार

समाजशास्त्र **''मानवतावादी सामाजिक विज्ञान है।''** (अब्राहम, 1973) इसलिए इसे किन्ही विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में खास मानव समूहों के विशेष विचारों, आदर्शों, मूल्यों, महत्वाकांक्षाओं समस्याओं और कठिन परिस्थितियों का ध्यान रखना होगा। इसलिए समाजशास्त्र प्राकृतिक विज्ञान के साँचे में फिर नहीं बैठता और विभिन्न देशों में इसका विकास एक अलग तरीके से होता है या वहाँ के विशेष ऐतिहासिक अनुभवों और सांस्कृतिक स्वरूप का प्रभाव उस पर होता है। यूरोप में औद्योगीकरण तथा पुनर्जागरण,

पूँजीवाद के जन्म से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक 300–400 वर्षों में फैली तमाम सामाजिक गुत्थियों और समस्याओं को सुलझाने की घोषणा के साथ एक अधतन विषय के रूप में समाजशास्त्र का जन्म हुआ। इसका क्रमिक परन्तु दूरगामी परिणाम बाद में उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद नयी सोच और वैचारिकी तथा विषणनवाद के नये दर्शन के रूप में उभर कर सामने आया। नये समाज के सन्दर्भ में ज्ञान और विश्लेषण का आधार व्यापक रूप में 'वैज्ञानिकता' और 'तार्किकता' का होगा और इसी क्रम में वही सत्य होगा या माना जायेगा जो विज्ञान के दायरे में विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरेगा। इसके तत्त्व तार्किकता, निरपेक्षता, संदर्भ– संस्कृति, विषयों के चयन आदि के रूप में स्थापित हुए और परिणामस्वरूप आधुनिक विषयों के श्रेणीक्रम में समाजशास्त्र को प्रकृति विज्ञान के ऊपर रखा गया। भारत में तथ्यों पर ध्यान न देने के कारण कोई भी समाजशास्त्र की भारतीय परम्परा के बारे में पर्याप्त प्रमाण के साथ बात नहीं कर सकता वरन् समाजशास्त्र की जर्मन या अमेरिकी परम्परा पर बात कर सकता है (सी0एफ0 मानहीम, 1953)। ऐसा इसलिए है, क्योंकि भारतीय समाजशास्त्री अपने शिक्षण एवं अनुसंधान में पश्चिमी अवधारणाओं, विधियों और सिद्धांतों पर ही जोर देते हैं, बजाय इसके कि वे अपने देश में इनका विकास करें। भारतीय समाजशास्त्री प्रायः 'घटनाओं–परी–घटनाओं के 'संरचनात्मक– प्रकार्यात्मक' विश्लेषण तक ही सीमित रहते थे और परिवर्तन के विविध आयामों और पहलुओं से अपने आपको दूर ही रखते थे। उदाहरण के तौर पर ड्यूमो और पौकोक द्वारा 1957 में दिये गये कथन का कोई विरोध नहीं हुआ कि, ''भारत का समाजशास्त्र केवल पिछले 10 वर्षों में ही ठीक तरह से आरम्भ हुआ है।'' समाजशास्त्र के भारतीयकरण के संदर्भ में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा द्वारा क्रमशः 'संस्कृतियों का मिलन–पात्र' और 'सांस्कृतिक पच्चीकारी' के रूप में प्राकृत की गयी अवधारणाएँ और अप्रासंगिक सिद्ध हो गयी तथा इनके स्थान पर भारतीय समाज तथा तद्नुसार भारतीय समाजशास्त्र में सम्मिश्रण संस्कृति की अपेक्षाकृत सशक्त तथा स्वीकार्य अवधारणा वैकल्पिक रूप से सामने आयी जिसने समाजशास्त्र के संदर्भ, संदर्श तथा उपागम को अपेक्षाकृत व्यावहारिकता के निकट लाने का प्रयास किया है।

4.2 भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र का विकास

समाजशास्त्र तथा सामाजिक/सांस्कृतिक मानवशास्त्र जाने पहचाने विषय है और वर्तमान में उनको कहीं भी मिश्रित नहीं किया जा सकता। लेकिन प्रारम्भिक समय में भारतीयों ने समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र को न केवल आपस में मिलाया, बल्कि शोध, लेखन, शिक्षण तथा शिक्षण के लिए भर्ती सभी कुछ साथ–साथ हुआ। बिना उपनिवेशवादी इतिहास को समझे भारत में समाजशास्त्र के विकास को समझना कठिन हैं। 1857 के बाद ऐसे शास्त्र की आवश्यकता समझी गयी थी जिसका उद्देश्य उपनिवेशी शासन को भारतीय समाज के विषय में ज्ञान देना था। इसी के बाद नृजातीय अध्ययन मानवशास्त्र, समाजशास्त्र का प्रारम्भ हुआ।

नृजातिशास्त्र के अध्ययनों में 'हर्बर्ट रिजले' अग्रणी थे। उनकी पुस्तक 'कास्ट एंड ट्राइब इन बंगाल (1691)' में उन्होंने बंगाल की जातियों और नृजातियों का खाका खींचा। 'इन पोस्ट–कोलोनियल पैसेज' में सौरभ दूबे (2009) लिखते हैं– ''उन्होंने कहा कि भारत में यदि शासन करना है तो जाति की अवहेलनाएं नहीं की जानी चाहिए। पूरी 19वीं शताब्दी में नृजातीय अध्ययन छाये रहे। जाति, धर्म, संस्कार, प्रयास जो भारत में प्रमुखताएँ थी, अध्ययन के लिए स्वीकार कर ली गई थी। समाजशास्त्र का विकास इन अध्ययनों में निहित था।''

समाजशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र एक ओर उपनिवेशवादी और उससे बौद्धिक उत्कंठा के कारण था तो अन्य महत्वपूर्ण कारण ब्रिटिश लोगों का अपनी प्रजा की आदतों, स्वभाव और संस्थाओं के बारे में ज्ञान प्राप्त करना था। इन आवश्यकताओं के लिए जाति, आदिवासी गाँव, धार्मिक समुदायों के अध्ययन के साथ नृतत्वशाखी और भाषायी सर्वेक्षण भी प्रारम्भ हुआ। कुछ लोगों की रूचि प्राचीन राजनीतिक अर्थव्यवस्था, कानून और धर्म के अध्ययनों में थी। मैक्समूलर, विलियम जोन्स से प्रारम्भ होकर बाद में कुछ अध्ययन वैचारिकी के साथ भी जुड़े। यह सब कुछ भारत अध्ययन (Indology) अध्ययनों के नाम से जाना गया। नगरों के विकास, गरीबी, धर्म, भूमि, ग्रामीण सामाजिक

संगठन तथा अन्य मूल सामाजिक संस्थाओं को समझने के प्रयास भी किये गये। एम0 एन0 श्रीनिवास तथा पाणिनी (1973) का मानना है कि इन दोनों विषय के विकास को 3 सोपानों में बाँटा जा सकता है। पहला सोपान वर्ष 1973 से 1900 के बीच का है जब इन दोनों विषयों की नींव रखी गई थी। दूसरी परिधि 1901–1950 के बीच की थी, जब समाजशास्त्र का व्यवसायीकरण हो गया था और अंत में भारतीय स्वतन्त्रता के बाद का समय।

4.3 भारत में समाजशास्त्र संदर्भीकरण व भारतीयकरण

भारत में समाजशास्त्र आज लगभग सौ साल पूरा कर चुका है। शुरूआत के 3 दशकों में समाजशास्त्रियों ने सिर्फ पश्चिमी सिद्धांतो एवं पद्धतियों का प्रयोग किया और उसके बाद ग्रामीण पद्धतियों के अध्ययन लोकप्रिय रहे, जैसे 1955 में 3 कृतियां श्रीनिवास द्वारा सम्पादित 'इण्डियाज विलेजेज, मेकिम मेरियट द्वारा सम्पादित 'विलेज इण्डिया' एवं एस0सी0 दूबे का 'इण्डियन विलेज'। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र के आंतरीकरण, स्थानीयकरण एवं भारतीयकरण, का मुद्दा महत्वपूर्ण हो जाता है। अटल (2003) ने कहा है कि अधिकतर देशों में समाज विज्ञान के स्थानीयकरण हेतु कई महत्वपूर्ण कदम उठाये गये तथा उपनिवेशकाल के पश्चात् सामाजिक विज्ञान की संरचना के पुनर्परीक्षण की आवश्यकता का अनुभव किया गया।

भारतीयकरण का अर्थ है पश्चिम के समाज विज्ञान की पद्धति को छोड़ व अपने समाज की संस्कृति को आधार मानकर एक नया समाजशास्त्रीय पद्धतिशास्त्र विकसित करना। योगेश अटल (2003) ने स्पष्ट किया कि समाज विज्ञान के भारतीयकरण हेतु कुछ पूर्व शर्तों की आवश्यकता है। वस्तुतः ये शर्ते व्यक्तिगत स्तर, संस्थागत स्तर, राष्ट्रीय स्तर, पेशेवर स्तर एवं आंचलिक स्तर पर लागू होनी चाहिए। उन्होंने स्पष्ट किया कि समाजशास्त्र के साहित्य का पुनर्मूल्यांकन होना चाहिए तभी भारतीयकरण सम्भव हो सकता है। अल्तास (Alatas) ने कहा कि बंधुआ या कैदी मानसिकता (Captive mind) से मुक्त होना पड़ेगा तथा आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक,

राजनैतिक विकास की प्रक्रिया शुरू करनी होगी। स्थानीयकरण करने वाले समस्त देश अपनी पृथक राष्ट्रीय पहचान रखते हैं और इस प्रकार वे अपनी परम्परा व संस्कृति को मजबूत करते हुए, उपनिवेशकारी राष्ट्रों से पृथक् एक सन्दर्भ समूह चाहते हैं। अटल (2003) ने भारतीयकरण की 4 विशेषताएँ बताई–

(i) भारतीयकरण, आत्म जागरूकता के लिए उद्घोष है व यह उधार ली गयी या आन्दोलित चेतना का खण्डन है। इसके तहत आन्तरिक दृष्टि अपनाने की कोशिश की गयी। इसके प्रवर्तकों की मंशा है कि अपने समाज का विश्लेषण कुछ स्थानीय समाजशास्त्रीय विचारधाराओं के आधार पर किया जाय तथा समाज वैज्ञानिक पश्चिमी वैचारिक विश्लेषण को त्याग दे।

(ii) भारतीयकरण के आधार पर समाज विश्लेषण के बारे में कुछ वैकल्पिक विचारधारायें विकसित की जाती है एवं इससे समाज विज्ञान की संकीर्णताएँ कम की जाती है व इसके आधार पर पेशेवर तत्त्वों का विकास होता है।

(iii) भारतीयकरण के आधार पर ऐतिहासिक व सांस्कृतिक विशिष्टताओं को ध्यान में रखा जाता है व राष्ट्रीय समस्याओं पर गतिशील विचारधारायें विकसित की जाती हैं।

(iv) भारतीयकरण के आधार पर संकीर्ण लौकिकीकरण नहीं होना चाहिए। एक परिभाषा को बहुखण्डित नहीं करना चाहिए व इसके द्वारा मिथ्या का सार्वभौमीकरण भी नहीं होना चाहिए या मिथ्या राष्ट्रवादिता का दम्भ नहीं होना चाहिए।

ऊमन (1996) मजबूती से अनुभव करते हैं कि समाजशास्त्रियों को बहुआयामी वास्तविकता एवं संरचना के अध्ययन के लिए संदर्भीकरण पर महत्त्व देना चाहिए। ऊमन के अनुसार भारत में 5 प्रमुख विचारधारायें पायी जाती है, जिनके आधार पर भारत में समाजशास्त्र के सन्दर्भीकरण में कई विशेषताएँ पायी जाती है– परम्परावादी, राष्ट्रवादी,

स्थानीयवादी, सर्वदेशीय तथा अतिवादी। इस प्रकार ऊमन के लिए भारतीय समाज के संदर्भीकरण की प्रक्रिया के 3 तत्त्व होने चाहिए–

1. वर्तमान की आवश्यकताएँ एवं आकांक्षाओं के दृष्टिकोण से परम्परा एवं अतीत की खूबियों एवं दायित्वों को स्वीकृति प्रदान करनी चाहिए।
2. भारतीय समाज में दूसरे समाजों एवं संस्कृतियों के उपर्युक्त मूल्यों का समावेश करना चाहिए।
3. भारतीय समाज में सामाजिक रूपान्तरण धीमी गति से होता है, ऐसा मानकर धीरे–धीरे अनुकूलन की प्रवृत्ति को स्वीकृति प्रदान करनी चाहिए। (ऊमन 1996)

4.4 भारत में समाजशास्त्र

एक विद्वान अनुशासन के रूप में, भारतीय समाजशास्त्र ब्रिटिश और अमेरिकी सामाजिक मानवविज्ञान और समाजशास्त्र पर आधारित है, लेकिन पश्चिमी प्रकार की संस्कृति और सामाजिक संरचना की तुलना में पूरी तरह से अलग विश्लेषण और व्याख्या करता है। औपनिवेशिक अतीत और उत्तर–औपनिवेशिक विकास भारतीय सामाजिक विज्ञान के संदर्भ के बहुत महत्वपूर्ण बिन्दु बने हुए है। भारत में समाज व संस्कृति पर शोध कार्य बहुत पुराना है लेकिन पहले अधिकतर शोधकार्य मानवशास्त्री करते थे जो सामाजिक मानवशास्त्र की पद्धतियों को अपनाकर शोध कार्य किये। इन दोनों विषयों के ऊपर नई चुनौतियाँ थीं–

(i) विदेशी विद्वानों के लेखों का मूल्यांकन।

(ii) समाजशास्त्र को भारतीय विधाशास्त्र (Indology) एवं सामाजिक मानवशास्त्र से अलग करना।

(iii) भारतीय सामाजशास्त्र की औपचारिक रूप से विषय क्षेत्र परिभाषित करना व शोधकार्य को प्राथमिकता देना।

(iv) रेखीय उदविकासवाद, मार्क्सवाद, संरचना–प्रकार्यवाद, पद्धतिशास्त्र की जगह नवीन सिद्धान्तों की स्थापना करना।

मुखर्जी ने 1955 में पहले अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन में कहा कि अन्य विज्ञानों में एक जमीन व एक छत होती है, लेकिन समाजशास्त्र की विशेषता यह है कि यहां सिर्फ भू–तल है व इसकी छत आकाश की ओर खुली है। इसका अर्थ है कि वह किसी भी तत्व का अनुकूलन कर सकता है। समाज विद्वानों को निम्न तत्वों पर गौर करना चाहिए।

4.5 स्वतंत्रता पूर्व समाजशास्त्र

समाजशास्त्र का औपचारिक प्रारम्भ 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में बी0एन0 शील के अथक परिश्रम से प्रारम्भ हुआ था। बाद में राधा कमल मुखर्जी और बी0एन0 सरकार ने विषय को आगे बढ़ाया। लेकिन अपने जन्म स्थान में समाजशास्त्र बहुत आगे नहीं बढ़ पाया। 1914 में बंबई में भारत सरकार के सहयोग से समाजशास्त्र का शिक्षण प्रारम्भ हुआ। विभाग 1919 में पैट्रिक गीड्स के नेतृत्व में बना। जी0एस0 घुर्ये तथा एन0के0 टूथी बाद में उनके सहयोगी बने। भारत में समाजशास्त्र की स्थापना के लिए यह ठोस कदम था। समाजशास्त्रीय शोध तथा सैद्धान्तिक रचनाओं का एक और केन्द्र लखनऊ बना जहाँ 1921 में समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के एक संयुक्त विभाग का निर्माण हुआ। राधाकमल मुखर्जी इस संयुक्त विभाग के अध्यक्ष बने। दक्षिण भारत में 1928 में बी0एन0 शील और ए0आर0 वाडिया के प्रयत्नों से मैसूर विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ हुआ।

1917 से 1946 के बीच समाजशास्त्र का विकास असंतुलित था और उत्साही नहीं था। इस अवधि में मात्र बंबई अकेला केन्द्र था जो गतिशील था। इंडोलॉजिकल

तथा नृजातीयशास्त्र का एक समन्वय इस केन्द्र की विशेषता थी। उस समय विश्वविद्यालय ने कई विद्वानों को जन्म दिया जो समाजशास्त्र के विकास के लिए प्रतिबद्ध थे। के0एम0 कपाड़िया, इरावती कर्वे, एस0वी0 करन्दीकर, एम0एन0 श्रीनिवास, ए0आर0 देसाई, आई0पी0 देसाई, एम0एस0 गोरे और वाई0वी0 दामले कुछ ऐसे नाम हैं जिन्होंने विषय को अपना अभूतपूर्व योगदान दिया। यही से कई लोग अन्य विश्वविद्यालयों में गये और विभिन्न विभागों की स्थापना की। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतंत्रता पूर्व इंडोलॉजिकल के साथ–साथ साामाजिक व्याधिशास्त्र और नृजातीय वर्णनों पर अधिक बल था। स्वतन्त्रता से पहले मजबूत आनुभाविक शोध परम्परायें नहीं उभरी थी। समाजशास्त्र एक मिश्रित शास्त्र था, उसकी अपनी अलग से पहचान नहीं थी।

4.6 प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों की दृष्टि और सोच

एक नये विषय के रूप में भारत में समाजशास्त्र इस आशा और योजना के साथ प्रारम्भ किया गया था कि यह भारतीय समाज के बारे में वैज्ञानिक सामान्यीकरणों और निष्कर्षों के माध्यम से राष्ट्र के नीति– नियोजन में महत्वपूर्ण दिशा–निर्देश प्रदान करेगा। इसका प्रारम्भिक लक्ष्य भारतीय दर्शन की मान्यताओं के आधार पर बौद्धिक परम्पराओं का निर्माण करना था। इसके प्रारम्भिक, अध्येताओं जी0एस0 घुरिये, धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी, राधाकमल मुखर्जी आदि ने भारतीय समाजशास्त्र के दर्शनशास्त्रीय सैद्धांतिकी अभिमुखीकरण की दिशा में गम्भीर और सफल प्रयास किये। उनकी मान्यता थी कि 'सामाजिक उद्विकास' का पाश्चात्य सिद्धान्त भारतीय समाज के संदर्भ में अप्रासंगिक हैं। व्यापक रूप में उन्होंने कर्म, धर्म, पाप–पुण्य, हिन्दू जीवन दर्शन, अर्थ, मोक्ष के सिद्धान्त, जाति, वर्ण की संरचना, आश्रम व्यवस्था, संयुक्त परिवार व्यवस्था और विवाह जैसे संस्थाओं के अस्तित्ववादी तत्त्वों को स्वीकार किया। उन्होंने यह दावा किया कि पाश्चात्य शोधकर्मियों द्वारा भारत के प्रति दृष्टिकोण यहाँ कि सांस्कृतिक हीनता और निर्भरता से जुड़ा हुआ था। मुखर्जी ने व्यक्तिवाद की जगह संघवाद, घुरिये ने

जाति–जनजाति एक करना तो राधा कमल मुखर्जी ने प्रजातंत्र के बारे में बताया। ड्यूमा, बेली, पीकॉक ने भी 'कंट्रीब्यूशन टू इंडियन सोशियोलॉजी' और अन्य पत्रिकाओं में अपने पत्रों और लेखों के माध्यम से भारतीय शोधकर्ताओं की दृष्टि पर विमर्श किया।

4.7 स्वातंत्र्योत्तर अवधि में समाजशास्त्र

योगेन्द्र सिंह के अनुसार, सैद्धान्तिक दिशाओं और इसके विचारकों की परिवर्तनशील संरचना की समीक्षा के लिए स्वातंत्र्योत्तर अवधि में समाजशास्त्र की समीक्षा चार दौरों के आधार पर करना अधिक उपयोगी होगा–1952 से 1960 जो प्राथमिक तौर पर तादात्मीकृत परिवर्तनों और अन्वेषणों का दौर था, 1960 से 1965 जो भारतीय समाजशास्त्र में सैद्धान्तिक प्राथमिकताओं में महत्वपूर्ण बदलाव, सिद्धान्त और वैचारिकी के मध्य कुछ तीक्ष्ण तनावों के उभार का दौर था, 1965 से 1970 जो अंकित समाजशास्त्रीय स्वजागरूकता और नयी दिशाओं के विकास का दौर था और ज्ञान के नये क्षितिजों और सिद्धान्तों को सामने ला रही थी। इसके पश्चात् 1990 के बाद का दौर शुरू होता है।

स्वातंत्र्योत्तर अवधि में भारत सरकार ने सामाजिक विज्ञानों के विकास में विशेष रूचि दिखाई। सामाजिक विज्ञानों के लिए एक स्वायत्त संस्था–भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् (ICSSR) का गठन हुआ और परिषद् की अधिकारिक पत्रिका ''सोशियोलॉजिकल बुलेटिन'' का प्रकाशन हुआ। लखनऊ विश्वविद्यालय ने समाजशास्त्रियों की पारस्परिक अंतःक्रिया के लिए वार्षिक सम्मेलनों का प्रायोजन आरम्भ किया। राव (1982) ने इस अवधि में 3 चीजों को चिन्हित किया। न केवल अधिक से अधिक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विभाग खुले साथ ही सैद्धान्तिक चिन्तन पर जोर दिया गया और विषय के अंदर विशेषज्ञताओं का विस्तार भी हुआ। दूसरे विषयों मनोविज्ञान, मानवशास्त्र, सामाजिक दर्शन और समाज कार्य से अलग करते हुए विषय ने अपनी स्वयं की अलग पहचान बना ली। तीसरा इन विभिन्नताओं ने समाजशास्त्र में

सम्मिलित विभिन्न सामाजिक जीवन के पक्षों का अध्ययन करने के लिए विभिन्न उपागम भी पैदा किये।

4.8 70–80 के दशक में समाजशास्त्र का विकास

सत्तरहवें दशक के आरम्भ में समाजशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र की कुछ समीक्षायें की गई थी। (देखें उन्नीथन, सिंह 1965ए ICSSR 1971, 1974, 1985 राव 1974, मुखर्जी 1977, मुखर्जी 1979, सिंह 1984, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग 1978, 1979, 1982, लेले 1981, ऊमेन और मुखर्जी 1986 धनागरे 1993, सिंह 1996) सातवें व आठवें दशक में समाजशास्त्रीय शोध और शिक्षा में रूचि और विशेषज्ञता पर चिन्तन का दौर चलता रहा। भूमि सुधार, कृषक, कृषि श्रमिक, अनुसूचित जातियां तथा जनजातियां, ग्रामीण समाज का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अध्ययन, औद्योगिक समाजशास्त्र, नगरीय समाजशास्त्र, सामाजिक संस्तरण, जाति नातेदारी, धर्म, राजनीति तथा आदिवासियों पर काफी शोध हुए हैं। वहीं 80 के दशक में कुल नवीन विषयों जैसे चिकित्सा का समाजशास्त्र विचलन का समाजशास्त्र, सामाजिक जननांकिकी, ज्ञान का समाजशास्त्र विज्ञान एवं तकनीकी का समाजशास्त्र तथा समाजशास्त्र का इतिहास प्रमुख थे।

4.9 नब्बे के दशक के प्रस्ताव

नब्बे के दशक में देश राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आमूल–चूल परिवर्तनों की ओर अग्रसर था। इसीलिए समाजशास्त्र का परिवेश भी व्यापक हो गया था। 1991 की नवीन आर्थिक नीतियों का भारतीय समाज पर विस्तृत प्रभाव था। नागरिक समाज, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में संकट और उसका समाधान, धर्मनिरपेक्षता तथा राष्ट्रीय एकीकरण के पक्ष थे जिनको इस नई आर्थिक नीति का विश्लेषण करना था। वैश्विक प्रकृति के विषय जैसे–पर्यावरण और समाज, मानव अधिकार के प्रश्न, प्रबंधन का समाजशास्त्र, मानवीय स्त्रोतों का विकास, क्रियात्मक

समाजशास्त्र, शांति, सुरक्षा और विकास, सुरक्षा प्रबंधन, सूचना तकनीकी इत्यादि विषयों का अध्ययन एवं शोध शुरू हुआ।

4.10 वर्तमान स्थिति एवं नये अभिमुखीकरण

भारतीय विश्वविद्यालयों में अन्वेषणात्मक उपागम वाले पाश्चात्य प्रारूपों और सिद्धान्तों को अपनाने के बावजूद समाजशास्त्र अब तक सार्वजनिक मुद्दों से प्रायः परे ही रहा है। इन सबमें भारतीय समाजशास्त्रियों द्वारा उधार के प्रारूपों पर किये गये कार्य की अप्रासंगिकता और अव्यावहारिकता अब सुस्पष्ट हो रही है। इसलिए पचास के दशक में भारतीय समाजशास्त्र के प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किये गये अध्ययन–प्रारूप और विषय बिन्दुओं पर एक बार फिर से विचार किया जाने लगा है ताकि पुनः नये रूप में एक प्रासंगिक समाजशास्त्र के निर्माण हेतु प्रयोग में लाया जा सके। इस स्थिति को एक आलोचनात्मक स्वीकारोक्तिपूर्ण लेख में दूबे ने यह प्रदर्शित किया–

''हम एशियाई समाजशास्त्रियों ने पश्चिम से कई समाजविज्ञानों को सीधे आयात और उनका उपयोग अपने व्याख्यानों को तैयार तथा प्रस्तुत करने में किया है, लेकिन एशियाई वास्तविकताओं से उभरे रचनात्मक सिद्धान्तों का निर्माण करवाने में नितान्त ही अक्षम रहे है, जिसके बिना हम अपने संदर्भों में समाजशास्त्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं कर सकते। आवश्यकता इस बात की है कि इस स्थापित प्रभावी पश्चिमी प्रारूप की पकड़ को पहले ढीला और फिर समाप्त कर दिया जाय।'' (दूबे 1982)

बौद्धिक औपनिवेशिकता से मुक्ति हेतु समाजशास्त्रीय विवेचनाओं का भारतीयकरण और सैद्धान्तिक विश्लेषणात्मक आत्मनिर्भरता की दिशा में गम्भीर प्रयास किये जा रहे हैं ताकि अपनी स्वयं की बौद्धिक परम्परायें विकसित की जा सके। बदलते परिप्रेक्ष्य में, जिसमें दुनिया इलेक्ट्रानिक माध्यमों और सूचना क्रान्ति के जरिए परस्पर गुंथ गयी है, इनमें घटना–विज्ञान के माध्यम से भारतीय यथार्थ को इसके इतिहास और संस्कृति के

तत्वों और इसके पारम्परिक स्वरूप के सहारे नये सिरे से जानने–समझने की कोशिश की जा रही है। इसलिए फिर से दलित, लिंग, राष्ट्रवाद, सम्प्रदायवाद, धर्मनिरपेक्षवाद, पूँजीवाद, बाजारवाद, सजातीयता, बहुलतावाद आदि जैसे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक मुद्दे नये रूप में उभरकर सामने आ रहे हैं। इस नये परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाजशास्त्री भारतीय सभ्यता और संस्कृति की सरलता और सुदृढ़ता के तत्वों को उभारने के प्रयास कर रहे हैं। टी0के0 ओमान, दीपांकर गुप्ता, योगेन्द्र सिंह, श्यामाचरण दूबे, आन्द्रे बेते आदि के समाजशास्त्रीय चिन्तन तथा ए0के0 सरन आदि के निरन्तर प्रयासों के द्वारा इक्कीसवीं शताब्दी में भारतीय समाजशास्त्र की भारतीय रूपरेखा बनाने के सार्थक प्रयास किये जा रहे हैं।

4.11 भारत में समाजशास्त्र का शिक्षण

भारत में एक अलग विषय के रूप में समाजशास्त्र 1920 के आस–पास स्थापित हुआ था। समाजशास्त्र का शिक्षण कार्य 1914 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रारम्भ हो गया था। सन् 1920 से 1941 तक परिस्थिति यथावत् बनी रही।

भारतीय स्वतंत्रता के समय तक समाजशास्त्र इसी स्थायित्व में चलता रहा। राष्ट्रीय नेतृत्व उस समय स्वतंत्रता संग्राम में लिप्त था। स्वतंत्रता से पूर्व समाजशास्त्री समाजशास्त्र की स्थापना और उन परंपराओं को स्थापित करने में संलग्न थे, जिससे समाजशास्त्र आगे बढ़ सके और उसे विकसित कर सके। स्वतंत्रता के पूर्व के समाजशास्त्रियों के योगदान स्वतंत्रता के बाद दिखाई देने लगे थे। 1920 से 1950 के बीच ऐसे विश्विद्यालय जिनमें समाजशास्त्र विभाग थे, का प्रतिशत घटा। 1950 के बाद यह प्रतिशत बढ़ना शुरू हुआ। 1960 में 23.8 प्रतिशत विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विभाग थे। लगभग 95 विश्वविद्यालयों और ऐसे संस्थानों में जो विश्वविद्यालय बन चुके थे, समाजशास्त्र विभाग मौजूद थे।

भारत के विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में समाजशास्त्र एक लोकप्रिय विषय है। वर्तमान में 133 पारंपरिक विश्वविद्यालयों में अन्य सामाजिक विज्ञानों के विषयों की तरह समाजशास्त्र विभाग है। स्नातक स्तर पर अधिकांश विद्यार्थी समाजशास्त्र विषय चुनते हैं। विश्वविद्यालयों में सामाजिक विज्ञानों तथा संबंधित विषयों के पढ़े जाने में समाजशास्त्र का पांचवां स्थान है। स्नातकोत्तर स्तर पर विद्यार्थियों की संख्या लगातार बढ़ी है। अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा इतिहास की अपेक्षा यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र के विद्यार्थियों की संख्या अधिक है। भारत के विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र स्नातक से एम0 फिल0 स्तर तक पढ़ाया जाता है। कुछ कोर्स शोध पद्धति से संबंधित हैं। स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में पढ़ाए जाने वाले इस विषय में सभी विश्वविद्यालयों में बड़ी समानता थी। वहीं अन्य पढ़ाए जाने वाले विषयों में भी काफी समानता थी। सब कुछ मिलाकर संख्यात्मक दृष्टि से समाजशास्त्र का विकास हो रहा है पर जहां तक विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में इसके गुणात्मक पक्ष का प्रश्न है परिस्थिति चिंतनीय है। यदि कुछ प्रमुख विश्वविद्यालयों को छोड़ दें तो अधिकांश विश्वविद्यालयों में परिस्थिति निम्न श्रेणी की है। अतः शोध तथा शिक्षण इन विश्वविद्यालयों में काफी सीमांत तक कमजोर पड़ गया है। सिंह (1977) लिखते हैं कि व्यवसायात्मक उत्कंठाओं, उपलब्धियों, नवाचार, व्यवसायात्मक आकांक्षाएं और उपभोक्ताओं के बदलते प्रतिमान आदि ने समाजशास्त्र पर व्यापक प्रभाव डाला है।

4.12 पाठ्य व संदर्भ

इस प्रकार की विचारधारा भारत में 1950 के दशक में अध्ययन के दौरान आई। इस विचारधारा का प्रतिपादन एम0 एन0 श्रीनिवास ने किया। पाठ्य का अर्थ है धर्म ग्रंथों, पुराणों, उपनिषदों में लिखा भारतीय समाज के बारे में लेखन। संदर्भ उन पर आधारित समाज का विश्लेषण है जो संरचनात्मक–प्रकार्यवादी उपागम का प्रयोग करते हुए किया जा सकता है। इस प्रकार का विश्लेषण श्रीनिवास ने रेडक्लिफ ब्राउन, इवांस प्रिचार्ड व एडमंड लीच से प्रभावित होकर प्रस्तुत किया।

पाठ्य व संदर्भ का अंतर भारतीय सामाजिक व्यवस्था की कई संस्थाओं में पाया जाता है। उदाहरण के तौर पर वर्ण एवम जाति व्यवस्था। वर्ण व्यवस्था भारतीय सामाजिक व्यवस्था के बारे में पाठ्य विचार है। अर्थात वर्णव्यवस्था आज मात्र पुस्तकों में विद्यमान है, जबकि जाति व्यवस्था भारतीय समाज के बारे में संदर्भ विचार है। यह क्षेत्र में पाया जाता है अर्थात ये वास्तविकता है।

4.13 संदर्भीकरण व देशीय क्षेत्रों के प्रयोग

अधिकतर समाजशास्त्रीय शब्दावली, विचारधाराओं, प्रत्यय अवधारणाएँ, उपागम आदि पश्चिमी समाजों के अनुभव पर आधारित है, इसलिए ये भारतीय स्थान के लिए उपयुक्त नहीं है। भारतीय सामाजिक विश्लेषण हेतु अपनी स्थानीय शैलियों को उत्पन्न करना व उनका सन्दर्भीकरण करने की आवश्यकता है।

योगेन्द्र सिंह के अनुसार भारत में तीन प्रत्यय व पद्धतिशास्त्रीय उन्मुखताए समाजशास्त्र में पायी जाती हैं। संरचनावादी, प्रारूपवादी एवं द्वन्दवादी संरचनावादी, और मुख्य रूप से इन्ही तीनों वैचारिक–सैद्धांतिक दृष्टिकोणों के अंतर्गत जाति, धर्म, 'संस्कृति आदि का अध्ययन किया गया।

लुई ड्यूमों व डी0 एल0 पोकॉक ने 1957 में भारतीय समाजशास्त्र में क्या अध्ययन क्षेत्र होने चाहिए व तथ्यों के विश्लेषण की पद्धति क्या होनी चाहिए, इस पर तर्क शुरू किया। 1957 में Contributions to Indian Sociology शोध पत्रिका शुरू की व 10 वर्ष तक लगातार सम्पादित किया व खुद ही इसमें लिखा भी। ड्युमों ने तमिलनाडु में जाति व्यवस्था के बारे में अध्ययन किया व भारतीय विद्या उपागम के सन्दर्भ में विश्लेषण प्रस्तुत किया। जबकि पोकॉक ने गुजरात में पट्टीदार जाति का अध्ययन किया था। 1966 में उन्होंने सम्पादन छोड़ दिया व 1972 में इसकी नयी 'श्रृंखला प्रकाशित हुई व टी0 एन0 मदन इसके सम्पादक बने। इन्होंने भारत के लिए समाजशास्त्र का तर्क नये तरीकों से शुरू किया। वह इसका सम्पादन वर्ष 1997 तक

करते रहे। तब वीणादास, दीपान्कर गुप्ता व पेट्रीशिया ओबेराय ने 2007 तक इसका सम्पादन किया ।2007 के बाद अमिता बविस्कर व नन्दिनी सुन्दर ने सम्पादन सम्भाला। 2012 से संजय श्रीवास्तव और दीपक मेहता इसका संपादन कर रहे हैं।

4.14 भारत में समाजशास्त्रीय शोध : संकट की स्थिति

पिछले कुछ वर्षों में 'इकॉनामिक एंड पोलिटिकल वीकली' में समाजशास्त्रीय शोध के विषय में कई लेख प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों में सामान्यतः समाजशास्त्र में शोध तथा शिक्षण के प्रति चिन्ताऐं व्यक्त की गई है (दास 1993, देशपांडे 1994)। अभी हाल में रेगे (1994) तथा बेते (1996) ने विशेष रूप से पश्चिम भारत में समाजशास्त्र की दशा और दिशा पर अपने मतन्वय व्यक्त किये हैं। इनकी मान्यता है कि जो कुछ भी भारतीय समाज में अध्ययन किया जा रहा है, उसका समय बीत गया है। जो अमेरिकन पाठ्यपुस्तकें पढ़ाई जा रही है, उनका सन्दर्भ कक्षा से बाहर गायब हो जाता है। 1990 में विषय पर आये संकटों पर बहस की गई थी। बहुत से विद्वानों और समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र की थकान पर चर्चा की थी (देशपांडे 1995)। आलोचना रहित महानगरीयवाद के प्रवेश की चर्चा भी की गई (मूर्थी 1993)। इस संभावना का जिक्र भी किया गया कि विचार विनिमय का एक समुदाय कभी बन सके (गिरी 1959), यह भी कहा गया कि इस संकट से बचने का एक साधन नारीवादी नीतियों को प्रभावित करना है। भारतीय विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र के शिक्षण पर भी चर्चा हुई है (उबेराय 1989–90, देव 1997)। अभी हाल में इस सारी बहस में एक नया मुद्दा शामिल हुआ है और वह है नारीवादी अध्ययनों का (दुबे 1986, 1996, 1997, देसाई 1997 भागवत तथा रेगे, 1991, पटेल 1994 उबेराय 1994) जिसमें नारी आन्दोलनों की चर्चा भी की गई (निरंजन 1992, जॉन 1996)।

वीणा दास (1993) का मानना है कि समाजशास्त्र में शोध के संकट के लिये विश्वविद्यालय, व्यवसायिक संगठन और भारतीय समाजशास्त्र परिषद् ये तीनों ही संस्थागत संरचनाएँ शोध कार्यों पर प्रभाव डालती हैं। यद्यपि विश्वविद्यालयों में

समाजशास्त्र द्रुत गति से फैला है, पर उसकी इच्छा अच्छे शिक्षण और शोध को अपनाने की नहीं है। बहुत से विश्वविद्यालयों में मैकाइवर और पेज, जो लगभग 90 वर्ष पहले लिखी गई थी, पढ़ाने के लिये स्वीकृत है। दूसरे जिन विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएँ हो गई हैं– वहाँ अंग्रेजी पढ़ने की कुशलता विकसित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। राष्ट्रीय भावना को जागृत करने के सैद्धान्तिक बयान इसलिये भी नहीं पहुंच पाते क्योंकि अच्छी अंग्रेजी पुस्तकें अनुवादित नहीं हुई हैं और ना ही भारतीय भाषाओं में कोई गंभीर मौलिक साहित्य रचा गया है। जो भी साहित्य उपलब्ध है वह विद्यार्थियों को समाजशास्त्रीय क्षमता प्रदान नहीं करता। तीसरे, जिन लोगों को समाजशास्त्र के शिक्षण या शोध के लिये नियुक्त किया जाता है उनके चयन में समाजशास्त्रीय क्षमता के स्थान पर राजनीतिक पक्ष अधिक प्रक्षण होता है। चौथे, पी–एच0डी0 की परीक्षा अधिकांश सीमित दायरे के लोगों के हाथ में हैं।

यदि शोध के गिरते हुए स्तर के लिए विश्वविद्यालय जिम्मेदार हैं तो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग भी अपनी मुख्य जिम्मेदारी न निभाने के आरोप से बच नहीं सकता। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग में जो निर्णय लेने वाले लोग है उनको देश में समाज विज्ञान की स्थितियों के प्रति बहकाया जाता है। व्यवसायिक संगठनों ने इस परिस्थिति को संवारने का कोई प्रयत्न नहीं किया। व्यावसायिक संगठनों का यदि एक काम समाजशास्त्रियों को अधिक से अधिक नौकरियों का प्रबंधन है तो दूसरी और इसका काम विषय में नैतिक आचरण की स्थापना भी है।

4.15 संभावित समाजशास्त्रीय विमर्श

समाजशास्त्रीय विमर्श के कुछ आवश्यक कथनों पर अपने आपको केन्द्रित किया जा सकता है। भारत में समाजशास्त्र के विकास के लिये निम्न मुद्दे महत्वपूर्ण हैं–

1. भारत में समाजशास्त्र के विकास को सामाजिक परिस्थितियों के इतिहास के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। इस इतिहास ने समय– समय पर समाजशास्त्रीय

परिप्रेक्ष्यों का निर्माण किया है। सामाजिक परिस्थितियाँ ही समाजशास्त्र की सैद्धान्तिक व्यवस्था और ज्ञान की अवस्थाएँ, इसी इतिहास से समझी जा सकती है (सिंह 1986)।

2. समाजशास्त्रीय ज्ञान में वृद्धि उसी पाठ्यक्रम से की जा सकती है जो पश्चिमी समाजशास्त्र के माध्यम से भारतीय सन्दर्भों को समझा सके। देश में सामाजिक विज्ञानों के विश्वविद्यालयी शिक्षण के सन्दर्भों को भी समझा जाना चाहिये। ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति में किन पद्धतियों का प्रयोग किया गया यह भी समझा जाना चाहिये।

3. शोध के संस्थाकरण के लिये आवश्यक है कि देखा जाय कि किन सिद्धान्तों की आवश्यकता है और साथ ही समाज की क्या मांगे हैं। वरीयता और आवश्यकता के क्रम में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और ICSSR वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। प्राथमिकताओं के प्रश्नों को शोध की प्रासंगिकता के साथ जोड़ा जा सकता है।

4. शोध की प्रासंगिकता पर विचार करते समय यदि कोई शोधकर्ता किसी ऐसे विषय पर काम कर रहा है। जो महत्वपूर्ण है, पर थोड़ा सा लीक से हटकर है– की अवहेलना नहीं करना चाहिए। ऐसे शोध कार्य बहुधा काफी आशावादी होते हैं। अंर्तवैषियक शोध जो दमदार शोध पद्धति के साथ जुड़े हुए हैं, को प्रोत्साहन देना चाहिये।

समाजशास्त्र के विकास का यह ऐतिहासिक लेखा जोखा उत्साहवर्धक नहीं रहा है। यह कहा जा सकता है कि प्रारंभ में समाजशास्त्र ने उपनिवेशवाद और सामंतवाद के अस्तित्व को बचाने में मदद की थी। भारत के लोगों में सामन्तवादी मनोवृत्ति समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और नृजातिशास्त्र के कारण थी। यह कहा जाना चाहिये कि भारत में यह विषय गलत तरीके से प्रवेश कर गया था।

पिछले सौ वर्ष में जो कुछ समाजशास्त्र लिखा गया, उसमें उन जन घटनाओं का जिक्र नहीं है, जो इस देश में घटी थी। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन एक लंबा चलने वाला आन्दोलन था और जिसमें आमजन ने भाग लिया था। भारतीय समाज की विविधता का स्वरूप उसमें परिलक्षित था। भारत के इतिहास की यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। हमारे समाजशास्त्रियों द्वारा इन घटनाओं पर लिखी किसी भी समाजशास्त्रीय पुस्तक को प्राप्त करना कठिन काम है। जब भारतीय समाज स्वाधीनता के लिए संघर्षरत था, एन. के. बोस और जी. एस. घुर्ये जातियों और नृजातियों पर लिख रहे थे।

भारत के इतिहास में एक और महत्वपूर्ण घटना भारत विभाजन की थी। भारत और पाकिस्तान से लाखों लोग विस्थापित हुए थे। पाकिस्तान से जलती हुई रेल गाड़ियाँ आई थी और रेलगाड़ियाँ भारत से पाकिस्तान गई थी। एक देश से दूसरे देश की सीमाऐं हजारों विस्थापितों ने पार की थी। भारतीय समाजशास्त्र में इस दुःखदायी घटनाचक्र का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

देश में बहुत सी समस्याएँ है। ये समस्याएँ बहु–नृजातीय, बहु– जातीय, बहु–धार्मिक, बहु–क्षेत्रीय और बहु–भाषायी हैं। बेकारी की समस्या आपदा का सूचक है। समाजशास्त्रियों से अपेक्षा है कि वे इन समस्याओं का न केवल अध्ययन करें बल्कि साथ ही इनका हल भी निकालें।

संदर्भ

- धनागरे, डी0एन0 1995, थीम्स एंड पर्सपेक्टिव इन इंडियन सोशियोलॉजी; रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली
- सिंह, वाई0 1986, इंडियन सोशियोलॉजी : सोशल कंडीशनिंग एंड एमरजिंग कनसर्न्स, विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
- मुखर्जी, रामकृष्ण, 1979, सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी, एलाइड पब्लिशर्स, मुंबई।

- सिंह, योगेन्द्र, 1979, ''ऑन दि हिस्ट्री ऑ सोशियोलॉजी इन इंडिया'' इन मोहिनी मलिक (संपादित) सोशल इंक्वायरी : गोल्स एंड एप्रोचेज, मनोहर, दिल्ली।
- सिंह, येागेन्द्र, 1986, 'इन्डियन सोशियोलॉजी : सोशल कंडिशनिंग एण्ड इमरजिंग कंसर्न्स, नई दिल्ली, विस्तर पब्लिकेशन.
- सिंह, योगेन्द्र, 1986, 'इन्डियन सोशियोलॉजी : सोशल कंडिशनिंग एण्ड इमरजिंग कंसर्न्स', नई दिल्ली, विस्तार पब्लिकेशन.
- श्रीनिवास, एम0एन0 एंड पाणिनी, 1986, ''दि डेवलपमेंट ऑ सोशियोलॉजी एंड सोशल ऐंथ्रोपॉलोजी इन इंडिया'' इन टी0के0 ऊमन एंड पार्थ एम0 मुखर्जी (संपादित) इंडियान सोशियोलाजी रिफ्लेक्शंस ऑफ इंटोस्पेक्शंस, पॉपुलर, प्रकाशन, मुंबई।
- अटल, योगेश 1976, 'सोशियोलॉजे इन इन्डियन कैम्पर्स', गिरी राज गुप्ता (सं0) में, मेन करेंटस् इन इंडियन सोशियोलॉजी (खंड 1), नई दिल्ली, विकास, पृ0 117–31.
- अटल, योगेश, 2003, 'इंडियन सोशियोलॉजी : फ्राम व्हेयर टू व्हेयर', जयपुर, रावत पब्लिकेशन्स.
- अटल, येागेश, 2009, सोशियोलॉजी एंड सोशल एन्थ्रोपालॉजी इन इंडिया (सम्पादित), नई दिल्ली.
- बेकर एवं बार्न्स, 1961, सोशल थॉट फ्राम लोर टू साइंस (खंड III), न्यूयार्क–डोवर प्रकाशन.
- बेते, आंद्रे, 1973, 'द टीचिंग ऑफ सोशियोलॉजी इन इंडिया', सोशियोलॉजीकल बुलेटिन, 22 (2) : 216–33.

- बोटोमोर, टी0बी0, 1962, 'सोशियोलॉजी इन इंडिया', द ब्रिटिश जर्नल ऑफ सोश्यिोलॉजी, 3 (2) : 98–106.
- क्लिनार्ड, एम0बी0 एवं एल्डर जे0 डब्ल्यू0, 1965, 'सोशियोलॉजी इन इंडिया : ए स्टडी इन द सोशियोलॉजी ऑफ नॉलेज, अमेरिकन सोशियोलॉजीकल रिव्यू, 30 (4) : 581–57.
- दामले, वाई0बी, 1974, 'सोशियोलॉजी इन इंडियाः इट्स टीचिंग एंड स्टेटस', इंटरनेशनल सोशल साइंस जर्नल, 26 (2) : 343–48.
- देसाई, आई0पी0, 1996, ''क्राफ्ट ऑ सोशियोलॉजी इन इंडिया : एन ऑटोबायोग्राफिकल परस्पेक्टिव'', नरेन्द्र सिंघी (सम्पादित), थ्योरी एंड आइडियोलॉजी एंड आइडियोलॉजी इन इंडियन सोशियोलॉजी : एसेज इन आनर ऑफ प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह।
- उमन, टी0के, 1996, ''सोशियोलॉजी इन इण्डिया : ए प्ली फार कान्टेक्स्चुअलाइजेशन, नरेन्द्र सिंघी (सम्पादित), थ्योरी एण्ड आइडियोलॉजी इन इंडियन सोशियोलॉजी : एसेज इन आनर ऑफ प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह।
- सिंह, योगेन्द्र 1994, इमेज ऑफ मैन : आइडियोलॉजी एंड थ्योरी इन इंडियन सोशियोलॉजी, दिल्ली : चाणक्य प्रकाशन.
- मुखर्जी, रामकृष्ण, 1979, 'सोशियोलॉजी ऑफ इन्डियन सोशियोलॉजी, मुंबई, एलाइड पब्लिशर्स.

MASY-117 (N)

भारत में समाजशास्त्र

खण्ड 2

जाति के परिप्रेक्ष्य

इकाई 05 ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य

इकाई 06 जाति पर अंबेडकर के विचार

इकाई 07 जाति पर लोहिया के विचार

इकाई 08 जाति का क्षेत्रपरक दष्टिकोण

इकाई 09 औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य

इकाई-५ ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 वर्ण प्रारूप एवं जाति प्रारूप

5.3 शुचिता एवं प्रदूषण की अवधारणा

5.4 अनुलोक एवं प्रतिलोम विवाह

5.5 जजमानी व्यवस्था

5.6 सारांश

5.7 निष्कर्ष

5.8 शब्दावली

5.9 बोध प्रश्न

5.10 अग्रिम पाठ्य सूची

5.0 उद्देश्य

इस इकाई में जाति के ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई में यह समझने का प्रयास किया गया है कि जाति के परिप्रेक्ष्य में किस प्रकार समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का विकास समय के साथ उत्तरोत्तर होता गया और जाति के प्रति दृष्टिकोण धीरे–धीरे विस्तृत होता गया। साथ ही साथ इस इकाई के अध्ययन से जाति को परम्परागत भारतीय समाज के स्तरीकरण के एक आधार के रूप में समझने में भी सहायता मिलेगी। इस इकाई के अध्ययन के द्वारा आप जान सकेंगे कि–

- जाति का ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य क्या है
- जाति व्यवस्था के प्रति ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण किस प्रकार सर्वोच्च प्रस्थिति एवं भूमिका से सम्बन्धित है
- परंपरागत जाति व्यवस्था में ब्राह्मण जातियों के अन्य जातियों से साहचर्य एवं अन्तर्क्रिया के प्रतिमान का स्वरूप क्या है

5.1 प्रस्तावना

प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन के आधार पर निकाले गए जाति व्यवस्था एवं उसके नियमों, और लक्षणों द्वारा एक ऐसे दृष्टिकोण का विकास हुआ जिसमें जाति का ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण प्रभावी था। पौराणिक शास्त्रों में प्राचीन धर्मशास्त्रों का अध्ययन करने में उन पौराणिक शास्त्रों की व्याख्या पर बल दिया गया जो संस्कृत में लिखे गए थे। संस्कृत को देव भाषा के रूप में अन्य भाषाओं से ऊपर माना गया था। ब्राह्मणों के संस्कृत भाषा में विद्वान और पारंगत होने के कारण संस्कृत भाषा में लिखे शास्त्रों के अध्ययन एवं व्याख्या पर ब्राह्मणों का नैसर्गिक एकाधिकार था। संस्कृत को देव भाषा के रूप में मान्यता देकर अन्य भाषाओं पर इसकी सर्वोच्चता को स्थापित किया गया। इस प्रकार जाति का ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य पौराणिक शास्त्रों की ब्राह्मणवादी व्याख्या के प्रयास का एक परिणाम है।

पौराणिक शास्त्रों के आधार पर जो विचार ब्राह्मणों द्वारा सामने रखे गए वह पूरी तरह से ब्राह्मणों के प्रभुत्व को स्थापित करने वाले थे। इस व्याख्या में ब्राह्मणों द्वारा अपनायी जाने वाली जीवन–विधि, आचार–विचार, विश्वास, अनुष्ठानों एवं कर्मकांडों की क्रियाविधि को ही सर्वोत्तम माना गया। इस प्रकार धीरे–धीरे जाति के बारे में ये ब्राह्मणवादी विचार अधिमान्य होते गये।

पौराणिक शास्त्रों द्वारा निर्गत इस विवेचना एवं व्याख्या का आधार ब्राह्मणों की जीवनविधि एवं प्रतिदिन की अंतर्क्रियाओं का संयोजन 'आनुष्ठानिक शुचिता' के रूप में विकसित किया गया। इसीलिए इस इकाई के अध्ययन के लिए सर्वप्रथम वर्ण और जाति के प्रारूप को समझना आवश्यक है क्योंकि ब्राह्मणों के उत्पत्ति और उनकी विशेषताओं को वर्ण के संदर्भ में स्पष्ट करने के प्रारंभिक प्रयास द्वारा ही यह ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य का प्रारंभ हुआ। धीरे–धीरे समाजशास्त्र एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों में होने वाले अध्ययनों के द्वारा भी इन्हें जाति की मूलभूत विशेषताओं के रूप में समझा गया। ब्राह्मणों की आनुष्ठानिक प्रस्थिति का मूल आधार शुचिता एवं प्रदूषण की अवधारणा है। जो जीवन के विशिष्ट अवसरों से लेकर प्रतिदिन की क्रियाओं में खान–पान एवं साहचर्य के नियमों की एक व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है।

इस प्रकार न केवल ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य द्वारा निर्गत विचार और विश्वास पुनर्स्थापित हुए अपितु इनके द्वारा एक विशिष्ट दृष्टिकोण को प्रभावी बनाने का प्रयास किया गया। इसमें ब्राह्मण जातियों के लक्षणों, विशेषताओं को अन्य जातियों के समानांतर रखकर जाति व्यवस्था को समझने और समझाने का प्रयास किया गया।

ब्राह्मणों की जीवन विधि एवं उनके विश्वावलोकन धर्मशास्त्रों में लिखित मंत्रों एवं ऋचाओं से ही निर्गत होने कारण जाति के बारे में भी उनके विचार ब्राह्मणों के शास्त्रीय विधानों पर आधारित हो गये। इस इकाई में ब्राह्मणों की उत्पत्ति के परंपरागत सिद्धाँत को स्पष्ट किया जाएगा। तत्पश्चात वर्ण और जाति के प्रारूप को लक्षणों के साथ विस्तृत रूप से समझा जाएगा। जाति के ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य को समझने के लिए शुचिता और प्रदूषण की

अवधारणा को समझना अति आवश्यक है क्योंकि इसी के आधार पर ब्राह्मणों और गैर–ब्राह्मणों के बीच साहचर्य, अन्तर्क्रियाएँ एवं खानपान के नियमों की व्यवस्था प्रतिदिन के जीवन में लागू किए जाने योग्य मानी गयी।

5.2 वर्ण प्रारूप एवं जाति प्रारूप

वर्ण का शाब्दिक का अर्थ रंग है और इसका सम्बन्ध त्वचा के रंग से है। चतुर्वर्ण के सामाजिक अनुक्रम के प्रारम्भ का सटीक समय बताना संभव नहीं है किंतु इसे दैवीय सिद्धाँत द्वारा स्थापित किया जाता है। ब्राह्मणवादी व्याख्या में ऋग्वेद के पुरुष सूक्त को आधार मानते हुए समाज को चार मुख्य खंडों में विभाजित माना गया। जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण की बात की गई। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त द्वारा बताया गया कि अति विराट पुरुष (ब्रह्मा) के मुख से ब्राह्मण वर्ण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और पैरों से शुद्र वर्ण की उत्पत्ति हुई। यद्यपि ऋग्वेद में वर्ण को इस चतुर्वर्ण की व्यवस्था के रूप में स्पष्ट नहीं किया गया है। मूल रूप से ऋग्वेद में आर्य वर्ण और दास वर्ण का ही वर्णन किया गया है। आर्य वर्ण में श्वेत और गौर रंग के आर्य लोगों को सम्मिलित किया गया है जबकि दास वर्ण में गहरे रंग की त्वचा वाले गैर–आर्य लोगों को रखा गया है। जी. एस. घुरिए (1950: 46) के अनुसार कालांतर में ये चारों वर्ण सामाजिक अनुक्रम का ऐसा आधार बनते गये। जिसमें वर्ण प्रारूप के संस्थागत स्वरूप में वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था स्थापित होती गयी।

इस संबंध में यह समझना भी आवश्यक है कि विदेशी, दास एवं विजित व्यक्तियों को एक पांचवी श्रेणी ''पंचम में रखा गया था। यद्यपि ऊमन (2014: 30) इस विचार पर बल देते हैं कि चातुर्वर्ण अनुक्रम में पंचम श्रेणी सम्मिलित न किया जाना एक सजग प्रयास था। इसे एक अचानक होने वाली चूक नहीं माना जा सकता क्योंकि इस पंचम श्रेणी में उन व्यक्तियों को सम्मिलित किया गया जो प्रदूषण की रेखा से नीचे माने गये थे। इस पंचम श्रेणी से गैर अनुष्ठानित और निम्नतम् प्रस्थिति जोड़ दी गयी। इसीलिए जी एस घुरिए (1961: 174) स्पष्ट करते हैं कि प्रारंभ में अपने रक्त को शुद्ध बनाए रखने के लिए और अपनी

आनुष्ठानिक शुचिता को बनाए रखने के लिए ब्राह्मणों ने स्वयं अपने ही सदस्यों के मार्गदर्शन के लिए इन धर्मशास्त्रों में लिखित नियमों की व्याख्या की थी। इस प्रकार अपने रक्त को शुद्ध रखने के लिए ब्राह्मणों द्वारा अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयास माना जा सकता है।

वर्ण अर्थात त्वचा के रंग को तीन गुणों के सिद्धाँत द्वारा स्पष्ट किया गया। गुणों की इस सोपानिकी में सत्व गुण को सर्वोच्च, तमो गुण को सबसे निम्न माना गया। सतोगुण का संबंध शुचिता, पवित्रता, और ज्ञान से माना गया जबकि रजोगुण न्याय, कर्तव्य, समाज के लिए वीरता पूर्ण कार्य के लिए जाना गया। जबकि इन दोनों गुणों के विपरीत तमोगुण को आशक्ति एवं भौतिक पदार्थों के प्रति लोलुपता से जोड़ा गया। स्पष्ट है कि सतोगुण को तप, ज्ञान वैराग्य से, रजोगुण को साहस वीरता एवं कर्तव्य से जबकि तमो गुण को आशक्ति और पशुवत प्रवृत्ति से जोड़ा गया है। इस मान्यता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के अंदर यह तीनों गुण होते हैं किंतु इनमें से किसी एक की प्रमुखता ही उसके व्यक्तित्व का निर्धारण करती है। गुणों के सोपानिकी इस बात पर बल देती है कि सात्विक गुणों के कारण ब्राह्मणों का सर्वोच्च स्थान है। जबकि क्षत्रियों में रजोगुण और वैश्यों में तमो गुणों की प्रमुखता देखने को मिलती है। इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण का व्यवसाय शास्त्रों के अध्ययन, अध्यापन एवं ज्ञान के संचय से जोड़ा गया। जबकि क्षत्रियों को शासन और सुरक्षा के कार्यों से जोड़ा गया। इसी क्रम में वैश्य वर्ण को कृषि व्यापार और व्यवसायिक गतिविधियों के लिए उपयुक्त माना गया। सबसे अन्त में इन तीनों वर्णों की सेवा करने के कर्तव्य को शुद्र वर्ण को दिया गया।

वर्णनात्मक आधार पर हुए इस सामाजिक अनुक्रम में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान दिया गया जबकि क्षत्रिय वैश्य और शूद्र तीनों को क्रमशः निम्न स्थिति प्रदान की गई। उल्लेखनीय है कि चातुर्वर्ण योजना के द्वारा केवल व्यक्तियों को ही चार प्रमुख सामाजिक श्रेणियों में नहीं बांटा गया है। बोस (1932: 11) स्पष्ट करते हैं कि चतुर्वर्ण की योजना द्वारा मिट्टी को भी चार अलग–अलग रंगों के आधार पर चार अलग–अलग श्रेणियों में विभाजित किया गया है। जिसमें ब्राह्मण मिट्टी श्वेत वर्णीय होती है। इसकी महक शुद्ध मक्खन जैसी तथा स्वाद

कसैला होता है। जबकि क्षत्रिय मिट्टी लाल रंग की होती है। इसकी महक रक्तिम होती है और इसका स्वाद कड़वा होता है। खनिज वाली पीली मिट्टी जिसकी सुगंध क्षारीय होती है और स्वाद खट्टा होता है, वही वैश्य मिट्टी है। जबकि शूद्र मिट्टी काले रंग की होती है तथा इसका स्वाद मदिरा के समान होता है।

5.3 शुचिता एवं प्रदूषण की अवधारणा

शुचिता और प्रदूषण की विचारधारा में शुचिता शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह समझना सबसे अधिक आवश्यक है कि स्वच्छता एवं प्रदूषण का सम्बन्ध जन्म से है। इस प्रकार शुचिता का आधार प्रदत्त है न कि स्वच्छता या सफाई। हिंदू धर्मशास्त्रों में शुद्धता या पवित्रता को बनाए रखने के लिए जप–तप, एवं पवित्र कार्यों को करना उचित माना गया है। जबकि अपवित्र और अशुद्ध को त्याज्य मानते हुए उसे अस्वीकृत व निषिद्ध करने पर बल दिया गया है (वाकर 1983)।

शुचिता और प्रदूषण को स्वच्छता से अलग करके देखना इसलिए आवश्यक है क्योंकि स्वच्छ दिखने वाला कपड़ा भी यदि शूद्र द्वारा स्पर्श पर कर लिया जाएगा तो उसे भी प्रदूषित माना जाएगा। अर्थात स्वच्छता और प्रदूषण की विचारधारा को समझने के लिए आनुष्ठानिक पवित्रता को समझना आवश्यक है, जो आवश्यक रूप से शुद्धता पर बल देती है ना कि स्वच्छता पर।

इस सिद्धाँत के द्वारा ही चारों वर्णों में ब्राह्मणों को धार्मिक अनुष्ठान, कर्मकांड और शास्त्रों के अध्ययन व व्याख्या के विशेषाधिकार दिए गए। जिन्होंने उनके आधिपत्य को का संस्थाकरण किया। जबकि तुलनात्मक रूप से अन्य तीनों वर्णों को वे अनुष्ठान करने की अनुमति ब्राह्मणों के माध्यम से ही दी गई। जिसके कारण यह माना गया कि शुचिता को स्थापित करने के विभिन्न नियम ब्राह्मणों द्वारा ही स्पष्ट किए जाएंगे और ब्राह्मणों द्वारा ही उनकी व्याख्या की जाएगी। इस प्रकार शुचिता और प्रदूषण के सिद्धाँत के आधार पर

ब्राह्मणों के विशेषाधिकार ही सुपरिभाषित नहीं हुए अपितु अन्य वर्णों द्वारा शुचिता एवं प्रदूषण के प्रतिमानो का पालन करवाने वाले परमाधिकार के रूप में लेते गये।

शुचिता और प्रदूषण के सिद्धाँत द्वारा जातियों के उस सामाजिक अनुक्रम की सोपानिकी संस्थाकरण का कार्य किया जिसके अंतर्गत प्रत्येक जाति को दूसरी जाति से न केवल अलग किया गया अपितु यह भी स्थापित किया गया कि कोई भी जाति अपने आप में वैयक्तिक अस्तित्व नहीं रखती है। ये सभी जातियाँ एक समग्र के विभिन्न अंगों के रूप में ही देखी जाती हैं। यह सामाजिक अनुक्रम का समग्र समतावादी ना होकर सोपानिकी पर आधारित है। अर्थात शुचिता और प्रदूषण के आधार पर जाति में दो विशेषताएं हैं– पहली प्रत्येक जाति दूसरी जाति विलग एवं पृथक है। जबकि द्वितीय विशेषता के अनुसार उस जाति का सम्बन्ध अन्य जातियों से जिस अनुक्रम के अनुसार है वह अनुक्रम बनाए रखना सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। इस प्रकार जातियों के बीच का यह सामाजिक अनुक्रम शुचिता एवं प्रदूषण के आधार पर सोपानिकी की व्यवस्था द्वारा स्थापित होता गया।

ओरेन्स्टीन (1965: 1–15) ने प्रदूषण को अकर्मक और सकर्मक प्रदूषण के रूप में स्पष्ट किया है। अकर्मक प्रदूषण अस्थायी है क्योंकि इसमें प्रदूषण जन्म या मृत्यु के समय थोड़े समय के लिए माना जाता है। ऐसे अवसरों पर प्रदूषण का प्रभाव केवल व्यक्ति के मूल परिवार पर ही लागू किया जाता है। इस संबंध में प्राथमिक संबंधी अर्थात नजदीकी के नातेदार प्रदूषित माने जाते हैं। जबकि द्वितीयक और तृतीयक अर्थात दूर के रिश्तेदार नातेदार उसी अनुपात में प्रदूषण से दूर होते जाते हैं। वर्ण के अनुसार भी प्रदूषण अलग–अलग तीव्रता का होता है। एक ब्राह्मण क्षत्रिय से कम, क्षत्रिय वैश्य से कम और वैश्य शूद्र से कम प्रदूषित माना जाता है। सकर्मक प्रदूषण का तात्पर्य उस प्रदूषण से है जो किसी भी प्रदूषित वस्तु पदार्थ या व्यक्ति के संपर्क में आने या स्पर्श से होता है। इसकी भी दो श्रेणियां बताई गई है :– बाह्य प्रदूषण एवं आंतरिक प्रदूषण। बाह्य प्रदूषण किसी अपवित्र वस्तु या पदार्थ के बाहरी संपर्क में आने से होता है। जिसके लिए प्रदूषित वस्तु पदार्थ, व्यक्ति को शोधन की क्रिया द्वारा पुनः पवित्र बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिए शूद्र द्वारा बर्तन स्पर्श कर लिए जाने से प्रदूषित हुए बर्तन को मांज कर धोने उसका शोधन हो

जाता है। आन्तरिक प्रदूषण का तात्पर्य उस प्रदूषण से है जो प्रदूषित वस्तु, पदार्थ के उपभोग कर लेने से शरीर के अंदर चला जाता है।

शुचिता और प्रदूषण एक जटिल विषय है क्योंकि शूद्र द्वारा कच्चा अनाज लिया जा सकता है किंतु उसी के द्वारा पकाया हुआ भोजन नहीं लिया जा सकता क्योंकि उससे द्विज प्रदूषित हो जायेंगे। किंतु द्विजों के अन्तर्गत ब्राम्हण क्षत्रिय से कच्चा भोजन अर्थात पकाया गया दाल, चावल या रोटी नहीं ले सकता है। वह या तो भोजन सामग्री (बिना पका अनाज) ले सकता है या पक्का खाना (घी में पकाया गया भोजन)।

प्रदूषण द्वारा शुचिता के खंडित होने के ये नियम भोजन से लगाकर सामाजिक संपर्क तक लागू होते हैं। द्विजों के घर में प्रवेश, रसोई में प्रवेश से, सामाजिक उत्सवों आदि सभी क्षेत्रों में शुचिता को बनाए रखने के लिए प्रदूषित पदार्थ वस्तु एवं व्यक्ति (शुद्र वर्ण) से अलग रखना आवश्यक है।

आनुष्ठानिक पवित्रता को बनाए रखने के लिए ब्राह्मणों के भोज्य पदार्थों पर विशिष्ट निषेध लगाए गए। ब्राह्मणों को सकर्मक प्रदूषण से बचाए रखने के लिए शुद्ध शाकाहारी भोजन को ही वैधानिक बनाया गया। इसी क्रम में ब्राह्मणों से निम्न किंतु द्विजों की श्रेणी में होने के कारण क्षत्रिय और वैश्य को समय–समय पर मांसाहार के विभिन्न नियमों द्वारा नियमित किया गया। जबकि शूद्रों के सामाजिक संस्तरण में निम्नतम प्रस्थिति के कारण उन्हें किसी भी प्रकार के मांसाहार के लिए निषिद्ध नहीं किया गया (कोलेन्डा 1997)।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के (ऊमन 2014: 29 से उद्धृत) अस्पृश्यों को छूने उनसे बात करने, यहाँ तक कि उन्हें देखने से भी ब्राह्मणों/द्विजो की पवित्रता भंग होती है। इस स्थिति में वे प्रदूषित हो जाते हैं। इस प्रदूषण को दूर करने के लिए व्यक्ति को पूरे शरीर को भिगाकर स्नान करना आवश्यक है। उपनयन का विधान केवल तीन उच्च वर्णों के लिए किया गया है। जबकि शूद्रों के लिए उपनयन (वेदाध्ययन) का कोई विधान नहीं है। शूद्र के लिए केवल सेवाकर्म ही निश्चित है। उच्च वर्ण की सेवा करके ही वह पुण्यफल का भागीदार होता है।

ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा और अलौकिक शक्ति को स्थापित करने के लिए मनुस्मृति स्पष्ट करती है कि जो व्यक्ति इन शासकों द्वारा बताए गए नियमों का पालन नहीं करते उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती (मनुस्मृति 103)। मनुस्मृति के दसवें अध्याय में अस्पृश्यों की जीवन विधि एवं निम्नतम सामाजिक प्रस्थिति का उल्लेख करने के साथ ही उन्हें सभी अधिकारों से वंचित करने की बात की गई है।

किंतु धर्मशास्त्रों और पुराणों द्वारा स्थापित किए गए जातिगत व्यवहार के इन प्रतिमानों को द्विज जाति और एकजाति के विभेद द्वारा ऐसे विशेषाधिकारों के रूप में स्पष्ट किया गया जिनकी विपक्षी श्रेणी के रूप में अस्पृश्यों को रखा गया। इसीलिए क्षत्रियों और वैश्यों की सामाजिक प्रस्थिति एवं अनुष्ठानिक महत्व ब्राह्मणों की तुलना में कमतर होने के बाद भी क्षत्रियों और वैश्यों को वेदों के अध्ययन के योग्य माना गया है। इस प्रकार द्विजों को एक साथ एक श्रेणी में किंतु एकजाति अर्थात अस्पृश्यों से पृथक किए गया है। अस्पृश्यों को वेदों के अध्ययन, वाचन एवं श्रवण से भी दूर रखा गया है। ब्राह्मणों को परमाधिकार की सीमा तक विशेषाधिकार प्रदत्त किए गए। जबकि अस्पृश्यों को विभिन्न प्रकार की निर्योग्यताओं के द्वारा प्रत्येक महत्वपूर्ण एवं सामाजिक सम्मान एवं सामुदायिक गतिविधि से दूर रखा गया। उदाहरण के लिए शुचिता एवं प्रदूषण के नियमों के प्रतिमान अस्पृश्यों के मंदिरों में निषेध सार्वजनिक स्थानों पर निषेध, यहां तक कि द्विजों के साथ घनिष्ठ संबंध व साहचर्य पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया। उदाहरण के लिए तमिलनाडु के ब्राह्मणों के अग्रहारम इस स्थिति को स्पष्ट करते हैं। इन अग्रहारम में अस्पृश्यों का प्रवेश वर्जित होने के साथ–साथ निषेधाज्ञा के टूटने की स्थिति में कड़े दंडों का प्राविधान था। अस्पृश्यों को पैरों में जूते तक पहनने की अनुमति नहीं थी । द्विजो के पुरुषों में सम्मान और प्रतिष्ठा का प्रतीक मूछें भी अस्पृश्यों के लिए निषिद्ध कर दी गयी थीं। वे समूह व समुदाय में होने वाली बैठकों में भी सम्मिलित नहीं हो सकते थे।

ड्यूमों (86) ने आनुष्ठानिक पवित्रता को बनाए रखने के लिए भोज्य पदार्थों और पेय पदार्थों की सोपानिकी को महत्वपूर्ण बताया है। शुचिता और प्रदूषण के अंतर्गत शुद्धता के मापदंड में उन भोज्य पदार्थों को अपवित्र माना गया जो क्रोध वासना या लिप्सा को बढ़ाने वाले

माने गये। शुचिता एक स्थाई गुण नहीं अपितु एक गतिशील अवधारणा है जिसमें सभी वर्णों को अपनी शुद्धता को सदैव बनाए रखना है। यह पृथक्करण शुद्ध और पवित्र को प्रत्येक प्रदूषित वस्तु से पृथक रखने पर बल देता है। पृथक्करण के नियम के टूटने की स्थिति में प्रत्येक शुद्ध भी प्रदूषित माना जाता है।

हट्टन (1961) लिखते हैं कि पवित्र हाथों द्वारा किए जाने वाले अनुष्ठान एवं पूजा का पुण्य कहीं अधिक होता है। यहाँ तक कि राजा द्वारा की जाने वाली पूजा में भी पुरोहित के हाथ लगाने से उसका पुण्य कहीं अधिक बढ़ जाता है।

ड्यूमो (1971: 67–68) चतुर्वर्ण के प्रारूप में चारों वर्णों को दो सेट में बांटते हैं। प्रथम सेट में तीन वर्णों को द्विज होने के कारण एक साथ जबकि शूद्रों को दूसरे सेट में रखते हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य तीनों उपनयन संस्कार के कारण द्विजों की श्रेणी में रखे गए और उन्हें धार्मिक जीवन में प्रतिभागिता करने योग्य मानते है। किंतु पुनः इन वर्णों को दो सेट में बांटा जा सकता है। जिसमें वैश्यों को क्षत्रिय और ब्राह्मणों से अलग रखा जाता है और ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों को सभी से श्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकार डुमो का मानना है कि वर्ण प्रारूप में एक रेखीय सामाजिक अनुक्रम नहीं है। इस प्रारूप में सामाजिक अनुक्रम क्रमागत विभेद एवं पृथक्करण द्वारा लगातार चलने वाली वे श्रंखलाएं हैं जो प्रत्येक वस्तु खाद्य पदार्थ, सामाजिक सम्बन्ध या व्यक्तियों को दो विपक्षी सेट में बांटती है।

शूद्रों का एकमात्र कार्य बिना किसी ईष्याभाव के तीनों वर्णों की आज्ञा का पालन एवं सेवा करना है (प्रो. काणे 32ई, मनु 1,91/33)।

वर्ण से अलग जाति एक ऐसा सामान्य शब्द है जिसके द्वारा एक ही प्रकार की वस्तुएं, पौधे, जंतु या व्यक्तियों को एक समान श्रेणी में रखा जाता है। इसके द्वारा उसे दूसरी जाति की वस्तुओं, पौधों, जंतुओं एवं व्यक्तियों से पृथक किया जाता है। कात्यायन श्रुतशास्त्र में जाति को एक ही प्रकार की एक समान प्रकार की उत्पत्ति से बनने वाले परिवार के रूप में समझा गया है। यद्यपि (ड्यूमों 1971 : 74) जाति और वर्ण के बीच के बीच का अंतर स्पष्ट नहीं हो पाता क्योंकि शास्त्रीय व्याख्या में में जाति और वर्ण के बीच कुछ ऐसी समानताएं देखने

को मिलती है जो इन दोनों के बीच निरंतरता प्रदर्शित करती है। वर्ण प्रारूप को समझने का प्रयोग इस शास्त्रीय परंपरा में जातियों की उत्पत्ति को समझने के लिए किया गया। ड्यूमों (1971 : 74) वर्ण प्रारूप और जाति प्रारूप दोनों में ही शक्ति को प्रस्थिति से नीचे रखा गया है उदाहरण के लिए क्षत्रिय राजा शक्तिशाली हो सकता है किंतु उसके द्वारा किए जाने वाले अनुष्ठान पुरोहित के माध्यम से ही होंगे जिसके कारण ब्राह्मणों की प्रस्थिति को शक्ति से ऊपर रखने पर वर्ण एवं जाति दोनों ही प्रारूपों में स्वीकार किया गया है।

5.4 अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह

जातियों के बीच सामाजिक अनुक्रम को स्थापित करने में दूसरी महत्वपूर्ण अवधारणा के रूप में अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के नियम सामने आते हैं। अनुलोम विवाह का तात्पर्य उस वैवाहिक संबंध से है। जिसमें एक ब्राह्मण पुरुष, ब्राह्मण स्त्री के अतिरिक्त किसी अन्य वर्ण की स्त्री जैसे क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जाति की स्त्री से भी विवाह कर सकता है। इसी प्रकार अन्य वर्ण के पुरुष भी अपने से निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकते हैं। इस वैवाहिक संबंध को मान्यता दी गई इसीलिए इसे अनुलोम विवाह कहा गया। जबकि प्रतिलोम विवाह के नियम के अनुसार किसी भी निम्न वर्ण की स्त्री के अपने से उच्च वर्ण के पुरुष से विवाह को अनुचित माना गया है। अर्थात पुरुष का वर्ण उच्च और स्त्री का वर्ण निम्न नहीं होना चाहिए। इस विवाह पर निषेध और प्रतिबन्ध लगाया गया। स्पष्ट है कि जाति के सामाजिक अनुक्रम के अंतर्गत सोपानिकी को स्थापित करने में विवाह के नियमों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह भी देखा जा सकता है कि अनुलोम और प्रतिलोम विवाह द्वारा जातियों की उच्च और निम्न प्रस्थितियों को संस्थापित करने के साथ ही स्त्रियों की निम्न प्रस्थिति का भी संस्थाकरण किया गया। इस प्रकार अनुलोम विवाह और प्रतिलोम विवाह के नियमों द्वारा जातिगत अनुक्रम में जाति को एक अन्तः विवाही इकाई के रूप में स्थापित करने में सहायता मिली। अर्थात जाति की सोपानिकी को सुदृढ़ आधार मिला।

बॉक्स 5.1

शास्त्रीय पद्धति के आधार पर जाति की विशेषताएं

01 समाज का खण्डात्मक विभाजन

02. सोपानिकी

03. धार्मिक जवं नागरिक विशेषाधिकार एवं निर्योग्यताएं

04. प्रदत्त पद से व्यवसाय का सम्बन्ध एवं व्यवसाय के चयन में स्वतंत्रता का अभाव

05. प्रदत्त सोपानिकी के आधार पर खाद्य पदार्थों, पेय पदार्थों एवं सामाजिक अंतर्क्रियाओं में स्वतंत्रता का निषेध

5.5 जजमानी व्यवस्था

जजमानी व्यवस्था का तात्पर्य जातियों की परस्पर निर्भरता की उस परम्परागत प्रणाली से है जिसमें जाति के वंशानुगत व्यवसाय और उनके बीच आर्थिक सम्बन्ध परस्पर जुड़े रहते थे।

अमेरिकन मिशनरी एच. एम. वाइजर (1936) ने संस्थागत प्रणाली के रूप में इसका अध्ययन किया था। इसमें प्रत्येक जाति जिसे वर्णों के सामाजिक अनुक्रम में अलग–अलग रखा गया है, उन्हें सामाजिक और आर्थिक रूप से परस्पर निर्भरता की एक समग्र व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। सामाजिक और आर्थिक निर्भरता की इस पारस्परिक व्यवस्था में प्रदत्त व्यवसाय को विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन और वितरण के आधार के रूप में समझा जाता है। द्विज या उच्च वर्ण वाले संरक्षक 'जजमान' होते थे और सेवा प्रदाता 'कामिन' होते थे। जजमान और कामिन के अधिकार मृतक–जजमान और कामिन के उत्तराधिकारी के बीच पीढ़ी दर पीढ़ी चलते थे। धार्मिक अनुष्ठान करने के अधिकारी ब्राह्मण होते थे। ब्राह्णों को शुचिता और प्रदूषण की विचारधारा में सर्वोच्च प्रस्तुति प्राप्त थी और इसके साथ सम्मान का सबसे बड़ा पद भी जुड़ा हुआ था। जबकि उस धार्मिक अनुष्ठान में प्रयुक्त की जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन और अनुष्ठान से पहले और बाद में की जाने वाली अन्य सेवाएं गैर ब्राह्मणों द्वारा संपादित की जाती थीं। जजमानी व्यवस्था के अंतर्गत ये गैर ब्राह्मण जातियाँ अपनी सेवाओं का संपादन और वस्तुओं का उत्पादन अपने परंपरागत

व्यवसाय के आधार पर करती थीं। उदाहरण के लिए सेवा जातियों के रूप में नाई (बाल काटने वाले), कुम्हार (मिट्टी के बर्तन बनाने वाले), बुनकर (कपड़ा बुनने वाले), कहार (पानी भरने वाले), धोबी (कपड़े धोने वाले), आदि सेवा–प्रदाता जातियों के रूप में संबंधित परिवार (जजमान) को पीढ़ी दर पीढ़ी अपने विशेष सेवाएं प्रदान करती थीं। जजमान और कामिन के बीच पारस्परिक सम्बन्ध रहता था क्योंकि विशिष्ट सेवा प्रदान करने की लिए जजमान अपने कामिन के भरण पोषण के प्रति उत्तरदायी होते थे। जबकि जजमान कामिन सेवाएं प्रदान करने के लिए उत्तरदायी होते थे।

परिवार में किए जाने वाले किसी भी अनुष्ठान जैसे विशेषकर विवाह में धार्मिक अनुष्ठान करना ब्राह्मण (पुजारी) का विशिष्ट अधिकार था, उसी प्रकार नाई और बारी के भी विशिष्ट सेवाएं प्रदान करने के अधिकार थे। ड्यूमों दायित्व से अधिक अधिकार को जजमानी व्यवस्था से जोड़ते हैं । उनके अनुसार नियोक्ता और उसके कर्मचारियों के बीच के आत्मीय संबंध के कारण जजमानी व्यवस्था अलग है। जिसमें जजमान पालक की भूमिका निभाता है जबकि प्रजा में सेवा–प्रदाता जातियाँ आती हैं (ड्यूमों 1970: 98)। वंशानुगत आधार पर परिवारों के बीच चलने वाले व्यक्तिगत संबंधों के रूप में देखते हैं जिसमें जजमान और कामिन के बीच के संबंध श्रम विभाजन की योजना में कार्यरत प्रतीत होते हैं। जजमानी के रिवाज के अनुसार सेवा एवं वस्तुओं के प्रदान करने के लिए प्रजा को भुगतान धनराशि के रूप में न देकर वस्तुओं के रूप में दिया जाता था। ये भुगतान केवल उसी अनुष्ठान के समय तात्कालिक रूप से न होकर, वर्ष भर चलने वाली गतिविधियों के माध्यम से होता था। उदाहरण के लिए प्रतिदिन के लिए कुछ भोजन, फसल तैयार होने पर एक निश्चित राशि में अनाज द्वारा भुगतान, और विशिष्ट अवसरों जैसे त्यौहार एवं उत्सव के समय अनिवार्य भेंट एवं उपहार (कपड़े, बर्तन आदि) जजमान द्वारा समय–समय पर दी जाती थी। इस प्रकार जजमानी व्यवस्था में एक स्थाई यद्यपि सीमित संबंध देखने को मिलता है। इस प्रकार यह व्यवस्था एक ग्रामीण समुदाय के बीच अलग अलग श्रेणियों में विभक्त जातियों के अंतर्गत साहचर्य को प्रदर्शित करने वाली है।

जहाँ वाइजर जजमानी संबंधों को वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं पुनर्वितरण की लगभग समान व्यवस्था के रूप में देखते हैं, वहीं ड्यूमों इस तथ्य पर बल देते हैं कि इस व्यवस्था में पदानुक्रम का अत्यधिक महत्व है क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग करने और उसके भुगतान में मुख्य भूमिका जजमान की ही होती थी। जजमान उच्च जातियाँ भूस्वामी होने के कारण शक्ति और धन के स्रोत और जजमानी सम्बन्धों का केन्द्र बनकर सामने आते हैं। इसलिए जजमानी की संस्था द्वारा सेवा प्रदाता भूमिहीन जातियों की व्यवसाय एवं भरण पोषण की सुरक्षा होने के साथ ही उन पर जजमान का आधिपत्य भी सुरक्षित और सुनिश्चित होता जाता है (ड्यूमों 1970: 102)।

इसीलिए वाइजर जहाँ जजमानी को साहचर्य एवं सद्भाव की आदर्श संस्था के रूप में देखते हैं और ग्रामीण समुदाय की छवि मजबूत करते हैं। वहीं डुमो इसे केवल आर्थिक साहचर्य के रूप में न देखकर धार्मिक विशेषीकरण एवं आर्थिक विशेषीकरण की व्यवस्था के रूप में समझने पर बल देते हैं। इसीलिए जजमानी में भी एक व्यवस्थित समग्र का मूल आधार आर्थिक न होकर धार्मिक है। जजमानी के इस अनुक्रम में सर्वोच्च प्रस्थित ब्राह्मणों एवं निम्नतम प्रस्थित शूद्रों को प्रदत्त की गयी है। जजमानी में यही दोनों सिरे जाति और व्यवसाय के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पर आधारित है। जबकि बीच में आने वाली मध्यस्थ जातियों का व्यवसाय से सुनिश्चित सम्बन्ध सदैव स्थापित नहीं किया जा सकता।

जजमानी में विभिन्न मध्यस्थ जातियों के बीच होने वाला कार्यपरक विनिमय पारस्परिक होता है उदाहरण के लिए पानी भरने का कार्य विशेष रूप से केवल एक ही जाति का नहीं होता। यदि वह जाति उस गाँव में नहीं होती है तो उसी कार्य को गाँव की किसी अन्य जाति के द्वारा किया जाता है। जजमानी में वंशानुगत निरन्तरता का गुण है जो पीढ़ी दर पीढ़ी जजमान और कामिन के परिवार के बीच निरंतर चलता रहता है। परिवार में कई पुत्र होने पर यह कार्य उनके बीच समान रूप से विभाजित हो जाता है। यहाँ यह समझना भी उल्लेखनीय है कि जजमान व कामिन की भूमिका में एक परस्परता है। अर्थात एक व्यक्ति एक ही व्यक्ति जजमान भी हो सकता है किंतु दूसरों के लिए कामिन भी हो सकता है। एक

कामिन एक या एक से अधिक जजमान का सेवा प्रदाता भी हो सकता है और दूसरे गाँव को भी सेवा प्रदान कर सकता है (कोलेन्डा 1963: 11–30)।

5.6 सारांश

ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य का विस्तार से वर्णन करने के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण और जाति प्रारूप के बीच परस्पर संबंध है। वर्ण और जाति प्रारूप के बीच विश्लेषणात्मक अन्तर करने के बाद भी इनकी व्याख्या एवं विवेचना में दोंनों पदों का अन्तर्बदल देखने को मिलता है। ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य की उपरोक्त व्याख्या से सोपानिकी को समझने का जो दृ ष्टिकोण सामने आता है उसमें जाति को एक अपरिवर्तनीय व्यवस्था रूप में समझा गया है। जाति की ये विशेषताएं लगातार परिवर्तनशील हैं। इन परिवर्तित होती विशेषताओं को समझने के लिए ब्राह्राणवादी दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं है। जोहेन्स फेबियन (1993: XI, गुप्ता से उद्धृत) मानवशास्त्री अपने अध्ययन को करते समय इस सीमा से बंध जाते हैं कि वे अपने अध्ययन की विषयवस्तु को समकालीन एवं समव्यसक प्रस्थिति में नहीं रख पाते हैं। इसलिए अध्ययन करते समय वे समाज और संस्था की विशेषताएं एक कठोर ढांचे में बांध देते हैं। परिणामस्वरुप ये कठोर ढांचा व्याख्या को एक अपरिवर्तनीय एवं कालातीत विश्लेषणात्मक के दायरे में बांध देता है।

दिपांकर गुप्ता (2004:X) इसी सम्बन्ध में शुचिता एवं प्रदूषण की विचारधारा को समकालीन समाज के अनुभवात्मक अध्ययनों के आधार पर संपूर्ण भारतीय समाज में चुनौती का सामना करते हुए पाते हैं। जातियों की स्वत्वसूचक एवं अधिकार–द्योतक पहचान स्थापित करने के प्रयास में वैकल्पिक सोपानिकी की अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है। इसलिए ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य द्वारा स्थापित उच्च जातियों की सर्वोच्चता को स्वीकार करने के लिए मध्यस्थ एवं निम्न जातियों में मतैक्य एवं सर्वसम्मति का नितांत अभाव देखने को मिलता है। अर्थात ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य द्वारा निर्गत व्याख्या के दो विशिष्ट गुण आनुभविक आधार पर ठोस प्रतीत नहीं होते। सर्वप्रथम, वर्ण प्रारूप की चार श्रेणियों में विभक्त सोपानिकी का स्पष्ट आधार जाति प्रारूप के अन्तर्गत आते ही असंख्य जातियों के बीच अस्पष्ट और अनिश्चित

हो जाता है। अर्थात वर्ण प्रारूप का अखिल भारतीय ढ़ांचा जातीय–बहुलता एवं पहचान स्थापित करने के लिए वैकल्पिक विचारधारा के क्षेत्रीय प्रारूपों को समझने की अपर्याप्तता को स्वतः ही सिद्ध कर देता है।

इस संबंध में यह समझना भी उल्लेखनीय है कि ब्राह्मणों की आनुष्ठानिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में आधिपत्त्य एवं सर्वोच्चता का विरोध करने के लिए गैर ब्राह्मणों द्वारा सामूहिक एवं व्यवस्थित प्रयास किए गये हैं। विरोध के ये स्वर और अपनी पहचान को स्थापित करने के लिए परिचारक वैचारिकी के प्रयास वर्तमान समाज की विशेषता नहीं है। अपितु महाराष्ट्र में उन्नीसवीं शताब्दी के ब्राह्मण विरोधी आंदोलनों इसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जो कालांतर में कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु आदि में आकार और स्वरूप ग्रहण करते गए (कोलेन्डा 1997: 119)।

5.7 निष्कर्ष

ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य धर्मशास्त्रों एवं पौराणिक दस्तावेजों पर आधारित होने के बाद भी दृष्टिकोण में एक आयामी हो जाता है। यह एक आयामी दृष्टिकोण एक पक्षीय विचारधारा को ही स्पष्ट कर पाता है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से निर्गत इस व्याख्या को समझने एवं प्रमाणित करने के प्रयास में ये व्याख्या जाति को एक स्थिर अवधारणा के रूप में स्पष्ट करती है। किन्तु औद्योगीकरण, नगरीकरण, वैश्वीकरण एवं समकालीन समाज में सूचना एवं जनसंचार प्रौद्योगिकी के आधुनिक साधनों के बढ़ते प्रयोग के कारण जाति की गतिकी एवं इसमें आ रहे परिवर्तनों को समझने के लिए सीमित, और अपर्याप्त है। तीसरे महत्वपूर्ण बिंदु के रूप ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य में संस्कृत के जिन धर्मशास्त्रों और पौराणिक दस्तावेजों को सम्मिलित किया जाता है, वे उपलब्ध लिखित ग्रंथों का केवल एक भाग हैं। इसलिए उन्हें ज्ञान का सम्पूर्ण भंडार मान लेना उचित नहीं है। चतुर्थ बिन्दु में ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य का एक प्रमुख दृढ़कथन जो स्वच्छता एवं प्रदूषण की वैचारिकी को सर्वोपरि बनाता है, जाति के आर्थिक एवं राजनीतिक पक्षों के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाता (गेराल्ड बेरेमैन 1991; दिपांकर गुप्ता 2004)।

इसीलिए ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य में अन्य जातियों तथा अन्य पक्षों के निर्वचन एवं वैचारिकी को समझे बिना जाति के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को समझना संभव नहीं है। इस अर्थ में ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य एक प्रारम्भिक परिप्रेक्ष्य के रूप में ही मान्य है। जिसके साथ अन्य पक्षों द्वारा की गई निर्वचन एवं व्याख्या को समझना भी नितांत आवश्यक हो जाता है। इस अर्थ में अन्य परिप्रेक्ष्य जैसे सबाल्टर्न या उपाश्रित दृष्टिकोण एवं दलित विमर्श को समझने का प्रयास ही समाजशास्त्रीय अध्ययन को सम्पूर्णता प्रदान करता है।

समाजशास्त्रीय तर्क एवं ज्ञान के भंडार में इन सभी परिप्रेक्ष्य की व्याख्याओं को एक विशिष्ट आयाम के रूप में लिया जाता है। इनमें से किसी एक को प्रभावी मानने का प्रयास समाजशास्त्रीय अध्ययन की सारगर्भिता को हानि पहुँचाता है। इस अर्थ में प्रस्तुत खण्ड की आगामी इकाइयों में जो दृष्टिकोण विश्लेषित किए जाएंगे उन्हें एक विकल्प के रूप में न देखकर जाति के समाजशास्त्रीय अध्ययन के विभिन्न पक्षों के रूप में देखा जाना आवश्यक है। जाति के ये विभिन्न परिप्रेक्ष्य एक दूसरे के विकल्प नहीं अपितु पूरक हैं। इन पूरक परिप्रेक्ष्यों को एक साथ देखने से ही समाजशास्त्रीय ज्ञान का विस्तार होता है।

5.8 शब्दावली

प्रतिलोम विवाहः विवाह के इस नियम में उच्च वर्ण की स्त्री का विवाह निम्न वर्ण के पुरुष से निषिद्ध माना गया है।

अन्तःविवाही नियमः विवाह का यह नियम एक विशिष्ट सामाजिक समूह या श्रेणी के बीच विवाह को ही मान्यता एवं सामाजिक स्वीकृति देता है। जैसे जाति का अंतःविवाही नियम।

जजमानी व्यवस्थाः परम्परागत भारतीय ग्रामीण समाज की एक संस्था है। जिसमें विभिन्न जातियों के परिवारों के बीच वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय एवं पुनर्वितरण की एक सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था कार्य करती है। ये संबंध परंपरागत व्यवसाय से जुड़े होते हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हैं।

आधिपत्यः जब किसी समूह या श्रेणी का अन्य समूहों या श्रेणियों के ऊपर राजनीतिक, सांस्कृतिक या सामाजिक वर्चस्व रहता है। इसे हेजेमनी या वर्चस्व भी कहा जाता है।

वैकल्पिक वैचारिकीः मध्यस्थ एवं निम्न जातियों द्वारा ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को अस्वीकृत करके अपनी पहचान को स्थापित करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। ये वैकल्पिक विचारधाराएं अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग स्वरूप ग्रहण करती हैं। इसे दिपांकर गुप्ता ने वैकल्पिक वैचारिकी कहा है। ये सहायक वैचारिकी या परिचारक वैचारिकी के रूप में सामाजिक अनुक्रम के दूसरी जातियों के दृष्टिकोण, विचारों विश्वासों, दृढ़–कथनों का प्रतिनिधित्व करती है।

5.9 बोध प्रश्न

01. ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य के लक्षणों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

02. शुचिता एवं प्रदूषण की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

03. जजमानी व्यवस्था के गुण एवं दोष बताते हुए इसकी समाजशास्त्रीय विवेचना कीजिए।

.....

.....

.....

.....

04. विवाह के किन नियमों के द्वारा जातिगत संस्करण को संस्थागत रूप प्रदान किया गया?

.....

.....

.....

.....

5.10 अग्रिम पाठ्य सूची

- बेते, अन्द्रे (2002): *हाइरेरिकिकल एंड कम्पटीटिव इनइक्विलिटी;* सोशियोलॉजिकल बुलेटिन, वोल्यूम–51(1) मार्च।
- दिपांकर, गुप्ता (2004): *कास्ट इन क्वेश्चनः आइडेंटिटी ऑर हाइरेरिकी;* (संपादित), कॉट्रीब्यूशन्स टू इंडियन सोशियोलॉजी ऑकेजनल स्टडीज 12, सेज प्रकाशन, नई दिल्ली।
- डुमो, एल. (1998): *होमो हाइरेरिकिक्स द कॉस्ट सिस्टम एंड इट्स इम्पलीकेशंस;* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली
- घुरिए, जी. एस. (1950): *कॉस्ट एंड रेस इन इण्डिया;* पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई

- कोलेन्डा, पी. (1963): *टुवर्ड्स ए मॉडल ऑफ द हिंदू जजमानी सिस्टम;* ह्यूमन ऑर्गेनाइजेशन, 22, 11–30

- कोलेन्डा, पी. (1997) *कॉस्ट इन कन्टेम्परेरी इण्डिया : बियोन्ड ऑरगेनिक सॉलिडेरिटी;* रावत प्रकाशन

- दिपांकर, गुप्ता (2004): *कास्ट इन क्वेश्चनः आइडेंटिटी और हाइरेरिकीय* (संपादित), कॉंट्रीब्यूशन्स टू इंडियन सोशियोलॉजी ऑकेजनल स्टडीज 12, सेज प्रकाशन, नई दिल्ली, आईएसबीएन 0–7619–3324–7(एच बी)

- ओरेन्स्टीन हेनरीः द स्टर्कचर ऑफ हिन्दू कास्ट वैल्यूज : ए प्रिलिमिनरी स्टडी ऑफ हाइरेरिकी एंड रिचुअल डिफिलिमेन्ट, जर्नल आर्टिकल, ईथनोलॉजी, वाल्यूम 4, नम्बर 1 (जनवरी 1965:1–15)

इकाई-६ जाति पर अम्बेडकर के विचार

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 अम्बेडकर के परिप्रेक्ष्य की पृष्ठभूमि

6.3 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति एवं कारकों का विश्लेषण

6.4 अस्पृश्यता के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण

6.5 सारांश

6.6 शब्दावली

6.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.8 अग्रिम पठन सामग्री

6.0 उद्देश्य

इस अध्ययन के बाद विद्यार्थी समझ सकेंगे कि

- अम्बेडकर का जाति को देखने का दृष्टिकोण किन मान्यताओं पर आधारित है।
- जातिगत असमानता और अस्पृश्यता के बीच क्या सम्बन्ध है।
- जातीय भेदभाव के भारतीय समाज पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव क्या हैं।
- अस्पृश्यता उन्मूलन की अम्बेडकर की वैकल्पिक वैचारिकी के मूल बिंदु क्या हैं।
- जाति के दलित दृष्टिकोण को समझने का क्या महत्व है।

6.1 प्रस्तावना

परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण सामाजिक वास्तविकता को देखने का केवल एक आयाम है। इस अर्थ में अम्बेडकर के जाति के बारे में विचार जातीय परिप्रेक्ष्य को एक नया आयाम देते हैं। डॉ. भीमराव राम जी अम्बेडकर (1891–1956) ने जाति व्यवस्था में अस्पृश्यों की निम्नतम प्रस्थिति, अस्पृश्यता के सामाजिक और आर्थिक दुष्परिणाम, एवं सुधारवादी विचारों को एक सैद्धांतिक विश्लेषण के रूप में विकसित किया। अम्बेडकर ने 1917 से 1920 की समयावधि में अमेरिका से कानून की डिग्री प्राप्त की। तत्पश्चात 1920 में भारत वापस लौटने पर अपने प्रतिदिन के अनुभवों में अस्पृश्यों के प्रति अपमानजनक व्यवहार का बोध होने पर उन्होंने इस विषय में अपने विचारों को संयोजित करना प्रारम्भ किया। अम्बेडकर जाति का सैद्धांतिक विश्लेषण करने के साथ–साथ राजनीतिक सक्रियता को भी साथ लेकर चल रहे थे। अम्बेडकर अस्पृश्यों को बहुसंख्य समाज द्वारा किये वाले शोषण, अपमान, और हिंसा के विरुद्ध लामबंद करने के लिए कटिबद्ध थे। किंतु अपने विचारों को एक स्वतंत्र धार देने के लिए वे जाति के प्रति अपने वैचारिक दृष्टिकोण को राजनीतिक सक्रियता के धरातल पर उतारना आवश्यक मानते थे। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि अम्बेडकर एक ओर सैद्धांतिक दृष्टिकोण एवं दूसरी ओर राजनीतिक सक्रियता के द्वारा भारतीय समाज में अस्पृश्यों की पहचान को स्थापित करना चाहते थे। अम्बेडकर का जाति के प्रति यह दृ

ष्टिकोण जाति व्यवस्था को नीचे से ऊपर के अनुक्रम में देखने का प्रयास है। अम्बेडकर जाति व्यवस्था को अस्पृश्यों के दृष्टिकोण से देखने और समझाने का प्रयास कर रहे थे। नीचे से इस जाति व्यवस्था को देखने पर अम्बेडकर इसे असमानता और शोषण की संरचनात्मक व्यवस्था के रूप में देखते हैं। अम्बेडकर जाति व्यवस्था के निम्न जातियों पर और विशेषकर अस्पृश्यों पर दुष्प्रभाव और दुष्परिणाम को समझने और दिखाने का प्रयास करते हैं।

6.2 अम्बेडकर के परिप्रेक्ष्य की पृष्ठभूमि

अम्बेडकर के जाति के प्रति दृष्टिकोण को संपूर्णता के साथ समझने के लिए तात्कालिक भारतीय समाज की सामाजिक पृष्ठभूमि को समझना भी अति आवश्यक है। अम्बेडकर निम्न जातियों और अस्पृश्यों पर जाति के प्रभावों को न देखकर 'दुष्प्रभाव और दुष्परिणाम' को देख रहे थे। अर्थात वे प्रारम्भ से ही जाति के प्रकार्य को नकार कर अस्पृश्यों एवं अति दलित–शोषित की उस पहचान को भारतीय समाज में स्थापित करना चाहते थे, जिन्हें अब तक अपनी जातिगत प्रस्थिति के कारण मुख्यधारा से बहिष्कृत रखा गया था। तत्कालीन भारत में 1920 से 30 के दशकों में अलग–अलग क्षेत्रों में विभिन्न विचारधाराओं वाले दलित नेतृत्व और आन्दोलन सामने आए थे। यह समय भारत में स्वाधीनता आन्दोलन का समय था। महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले की मराठी भाषा में लिखित पुस्तक गुलामगिरी (1885) प्रकाशित हो चुकी थी। फुले महाराष्ट्र में गैर ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य और विचार का प्रसार कर रहे थे। ज्योतिबा फुले (1826 से 1890) स्वयं जाति से माली थे। किंतु दलित दृष्टिकोण वाले मुख्य समाज सुधारक के रूप में कार्य कर रहे थे। उन्होंने शिक्षा के द्वारा महिलाओं और अस्पृश्यों के सुधार के लिए युद्ध स्तर पर कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। सिद्धांत के स्तर पर फुले शूद्र और अति शूद्रों को एक ही साथ जोड़ कर देख रहे थे। महाराष्ट्र से ही एक अन्य दलित किसान नेता फागू जी बसोंडे (1827–1996) भी महार जाति के लोगों को प्रतिनिधित्व प्रदान कर रहे थे। बसोंडे नागपुर में टेक्सटाइल उद्योग के मजदूरों विशेषकर महार जाति के मजदूरों के नेता के रूप में 1909 में सक्रिय थे। बसोंडे भी बहुसंख्य समाज

द्वारा किए गए उत्पीड़न और शोषण को अस्वीकार करने के लिए अस्पृश्यों की पहचान को स्थापित करने के लिए प्रयासरत थे (गेल ओमवेटः 2011; पृष्ठ 48–51)। इसलिए जाति के ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य को सर्वसम्मत मान लेना एक बड़ी भूल होगी।

अम्बेडकर का जातीय परिप्रेक्ष्य इस अर्थ में अन्य सुधारवादी दृष्टिकोणों से सर्वथा भिन्न हो जाता है कि वे जाति के समाज के लिए प्रकार्यों को स्पष्ट रूप से नकार देते हैं। वे जाति के समाज पर दुष्प्रभाव और दुष्परिणाम की विस्तार से व्याख्या करते हैं। इसके बाद भी अम्बेडकर जाति व्यवस्था में अस्पृश्यों पर आने वाले दुष्प्रभाव और दुष्परिणामों की विस्तार से व्याख्या करते हैं। अम्बेडकर एक–एक करके उन सभी प्रकार्यों का खंडन करते हैं जिन्हें ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य में समाज के लिए उपयोगी माना जाता था। सर्वप्रथम अम्बेडकर इस विचार को अस्वीकार करते हैं कि जाति द्वारा मानव की नस्ल में सुधार होता है। इसके साथ ही जाति का व्यवसाय से संबंध होने के कारण समाज में विकसित होने वाले आर्थिक कौशल को भी अम्बेडकर जाति व्यवस्था का प्रकार्य नहीं मानते हैं। अम्बेडकर स्पष्ट करते हैं कि जाति व्यवस्था ने समाज को केवल दुष्प्रभावित किया है। यह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसने समाज को केवल असंगठित और अनैतिक बनाया है (अम्बेडकरः सिलेक्टेड वर्क्स डॉ अम्बेडकर, पृष्ठ 97)। जाति की शुद्धता को बनाए रखने वाले खान–पान, जाति अन्तःविवाह जैसे नियमों पर तीखा प्रहार करते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि जाति व्यवस्था का समाज पर पड़ने वाला सबसे बड़ा दुष्परिणाम समाज की एकता पर पड़ता है। वे स्पष्ट करते हैं कि ऐसे समाज में एकता संभव ही नहीं है जिसमें एक सामाजिक श्रेणी स्वयं को अन्य सभी से सर्वोच्च मानते हुए अपनी सभी सामाजिक गतिविधियों से निम्नतम श्रेणियों को पृथक और विलग कर देती है। जातीय नियमों के द्वारा हिंदू समाज के सभी व्यक्तियों को एक सामान्य गतिविधि में साझीदार बनने से रोका जाता है। इस के कारण हिंदू समाज कभी भी एकजुट और संगठित समाज नहीं बन पाता है। इसमें जातीय हिंदू अपनी जाति की उच्च प्रस्थिति को बनाए रखने के लिए जातीय नियमों के पालन को अपना सबसे बड़ा कर्तव्य मानते हैं। इसी व्यवस्था में जातीय हिंदू शूद्रों, अस्पृश्यों, यहाँ तक कि आदिवासी जनजातियों को स्वयं से पृथक रखते हैं। इस प्रकार

जाति व्यवस्था एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें नियमों की सामाजिक दूरी वास्तविकता में 'गैर–सामाजिक लक्षण' को परिलक्ष्यित करती है क्योंकि इसके कारण 'जातीय हिंदू' मुख्यधारा से शूद्रों, अस्पृश्यों, तथा आदिवासी जनजातियों को पृथक और विलग कर देते हैं (अम्बेडकरः सिलेक्टेड वर्क्स डॉ अम्बेडकर, पृष्ठ 98–99)।

जाति व्यवस्था की इस 'गैर–सामाजिक' विशेषता को समाज के सर्वमान्य प्रमुख लक्षण के रूप में संस्थापित किया गया है। अम्बेडकर के अनुसार इसका दुष्प्रभाव यह है कि उच्च जातियाँ शूद्रों एवं अस्पृश्यों की अपमानजनक एवं दयनीय स्थिति होने के बाद भी उनके प्रति उदासीन रहती हैं। अम्बेडकर के अनुसार जाति व्यवस्था में निम्नतम प्रस्थिति वाले इन सदस्यों के लगातार चले आ रहे शोषण के प्रति जातीय हिंदुओं की उदासीनता एक गंभीर रोग के समान है। इनकी इसी उदासीनता के कारण शुद्रों, अति शूद्रों, एवं अस्पृश्यों की दयनीय, दमित और शोषित स्थिति होने के बाद भी उनके सुधार के पर्याप्त प्रयास नहीं दिखते हैं। जाति आधारित इन नियमों के कारण जातीय–हिंदुओं और शूद्रों–अस्पृश्यों के बीच बनाए जाने वाली सामाजिक दूरी के इतने गंभीर दुष्परिणाम हैं कि इन्होंने जातीय –हिन्दुओं की नैतिकता एवं मूल्यों को भी हानि पहुँचायी है। जाति आधारित इस विभेदकारी व्यवहार के कारण समाज की जनचेतना का ह्रास हुआ है। इसीलिए समाज में जनसेवा और जनमत की संभावना क्षीण होती गई क्योंकि जातिगत नियमों का पालन करना सर्वोच्च मूल्य और नैतिकता का केंद्र बनता गया (अम्बेडकरः एनीहिलेशन ऑफ कास्ट विद ए रिप्लाई टू महात्मा गांधी, सिलेक्टेड वर्क्स डॉ अम्बेडकर, पृष्ठ 102–104)।

6.3 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के कारकों का विश्लेषण

अम्बेडकर इस बात पर बल देते हैं कि जाति व्यवस्था प्रजातीय विभेद अर्थात नस्ल के विभेद को इंगित नहीं करती है। जाति व्यवस्था तो एक ही नस्ल के लोगों के बीच बनाया गया सामाजिक विभाजन है। जाति व्यवस्था के इस विभाजन को किसी भी प्रकार से जैविक आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता। खान–पान के जातीय नियमों के टूटने से रक्त की शुद्धता नहीं टूटती है। इसी प्रकार अम्बेडकर जाति के अंतःविवाह के नियम को भी रक्त की

शुद्धता से जोड़कर समझने के औचित्य को पूरी तरह से गैर–वैज्ञानिक मानते हैं (अम्बेडकरः सिलेक्टेड वर्क्स डॉ अम्बेडकर, पृष्ठ 95–97)।

अम्बेडकर के अनुसार यूरोपीय अध्ययनों ने जाति व्यवस्था में वर्ण के शाब्दिक अर्थ अर्थात रंग की भूमिका पर अनावश्यक रूप से प्रकाश डाला है। अम्बेडकर के अनुसार जाति व्यवस्था को रंग संबंधी पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होकर नहीं जा समझा सकता। साथ ही अम्बेडकर जाति की उत्पत्ति के व्यावसायिक सिद्धांतों को भी स्वीकार नहीं करते हैं। अम्बेडकर के अनुसार यह किसी भी तरह से जाति की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं करता। वर्ण व्यवस्था के सिद्धांत को भी अस्वीकृत करते हुए अम्बेडकर स्पष्ट करते हैं कि हिंदू समाज भी अन्य समाजों की तरह वर्गों से बना था। सर्वप्रथम ज्ञात वर्गों में ब्राह्मण–पुजारी वर्ग, क्षत्रिय–सैन्य वर्ग, वैश्य–व्यापारी वर्ग है तथा शूद्र या कारीगर निम्न वर्ग है। इस प्रणाली में योग्य व्यक्ति अपना वर्ग बदल सकते थे। किंतु हिंदुओं के इतिहास में कुछ समय में ही पुरोहित वर्ग ने सामाजिक रूप से स्वयं को शरीर के बाकी हिस्सों में अर्थात अन्य तीनों वर्गों से अलग करके एक बंद दरवाजे की नीति के माध्यम से स्वयं को एक जाति के रूप में बनाया। सामाजिक विभाजन के कारण अन्य वर्गों में भी विभेदीकरण हुआ। समाज का यह विभाजन स्वाभाविक था। किंतु वर्ग व्यवस्था के खुले दरवाजे वाले चरित्र को खोने के कारण जातियाँ आत्म–संलग्न बंद इकाइयाँ बनती गयीं। ऐसा 'अनुकरण के संक्रमण' और यंत्रवत प्रक्रिया द्वारा हुआ। अनुकरण का संक्रमण वास्तविकता में एक मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। धीरे–धीरे जातियों का अन्तःविवाही बन्द–इकाइयों के रूप में विकसित होना यंत्रवत हुआ। अम्बेडकर इन दोनों को एक दूसरे का पूरक कहते हैं और जाति निर्माण की प्रक्रिया को संपूर्णता के समझाने के लिए दोनों को समझने पर बल देते हैं।

जाति विश्वास पर टिकी है और विश्वास को किसी संस्था की नींव बनाने से पहले संस्था को मजबूत बनाने की जरूरत पड़ती है। जाति व्यवस्था का अध्ययन करते समय अम्बेडकर निम्नलिखित चार बिंदुओं पर बल देते हैंः–

- हिंदू आबादी की समग्र संरचना के बाद भी, इसमें एक गहरी सांस्कृतिक एकता है।

- जाति एक बड़ी सांस्कृतिक इकाई के टुकड़ों में विभाजित है।
- प्रारम्भ में एक ही जाति थी।
- 'अनुकरण और बहिष्कार' के माध्यम से वर्ग 'जाति' बन गए हैं।

अम्बेडकर स्पष्ट करते हैं कि धार्मिक पवित्रता किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं बनी है। अम्बेडकर का उद्देश्य उस दृष्टिकोण की मिथ्या दिखाना है जिसने धार्मिक स्वीकृति को वैज्ञानिक व्याख्या की स्थिति तक बढ़ा दिया है। अम्बेडकर के अनुसार जाति की उत्पत्ति को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि वह कौन सी श्रेणी है जिसने अपने चारों ओर यह परिक्षेत्र खड़ा किया है। जिन रीति–रिवाजों के आधार पर जाति पहचानी जाती है, वे रीति–रिवाज अपनी पूरी कठोरता के साथ केवल एक ही जाति अर्थात ब्राह्मण जाति में उपलब्ध हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि ब्राह्मण हिंदू समाज के सामाजिक पदानुक्रम में सर्वोच्च स्थान रखते हैं। ये सभी धार्मिकता पर आधारित जातिगत रीति रिवाज अपने मूल रूप में केवल ब्राह्मण जाति में ही उपलब्ध हैं। जबकि गैर–ब्राह्मण जातियों में इनका प्रचलन व्युत्पन्न है। अर्थात गैर–ब्राह्मण जातियों में इनका पालन न तो बहुत ही सख्ती से किया जाता है और न ही पूर्णता के साथ। गैर–ब्राह्मण जातियों में इन नियमों का प्रचलन व्युत्पन्न है।

जाति की परिभाषा

अम्बेडकर जाति की प्रकृति और उत्पत्ति को समझाने के लिए जाति की परिभाषा से प्रारंभ करते हैं। वे सेनार्ट, नेस्फील्ड, रिजले और डॉ. केतकर की गई व्याख्याओं का विश्लेषण करते हैं। सेनार्ट ने जाति को एक घनिष्ठ निगम के रूप में परिभाषित किया है। सेनार्ट जाति को वंशानुगत और पारंपरिक मानते हैं। सेनार्ट ने जाति की विशेषता के रूप में 'प्रदूषण के विचार' को प्राथमिकता दी है। किंतु अम्बेडकर प्रदूषण के विचार को जाति की विशेषता नहीं मानते हैं। अम्बेडकर के अनुसार प्रदूषण का संबंध पुरोहित द्वारा किए जाने वाले अनुष्ठानों से जुड़ा हुआ है। इसलिए जाति के कामकाज को नुकसान पहुंचाए बिना जाति के साथ इसके आवश्यक संबंध को पूरी तरह से नकारा जा सकता है। प्रदूषण का

विचार इसलिए जाति व्यवस्था से जुड़ा हुआ है क्योंकि जिस जाति को सर्वोच्च प्रस्थिति प्राप्त है वह पुरोहित जाति है। इस अर्थ में प्रदूषण के विचार को जाति की विशेषता नहीं माना जा सकता।

इसी प्रकार नेस्फील्ड की परिभाषा को भी अम्बेडकर अस्वीकृत करते हैं। अम्बेडकर के अनुसार नेसफील्ड ने जाति के 'प्रभाव' को जाति का 'कारण' समझने की भूल की है। जाति एक आत्म–संल्लग्न इकाई होने के नाते स्वाभाविक रूप से अपने सदस्यों में सामाजिक अंतरक्रिया को सीमित करती है। फलतः दूसरी जाति के लोगों के साथ अंतरक्रिया का यह अभाव जाति व्यवस्था का एक स्वाभाविक परिणाम है। मूल रूप से एक जाति का दूसरी जाति के सदस्यों से खानपान और अंतरक्रिया न करना एक धार्मिक निषेध के रूप में दर्शाता है। किंतु यह जाति व्यवस्था का बाद में हुआ विकास अर्थात परिणाम है। अम्बेडकर रिजले की परिभाषा को भी दरकिनार करते हैं।

अम्बेडकर स्पष्ट करते हैं कि इन तीनों व्याख्याओं में कोई भी पूर्ण रूप से सही नहीं है क्योंकि ये सभी जाति व्यवस्था के तंत्र में केंद्रीय बिंदु को समझने से चूक गए। यहां मुख्य गलती यह है कि जाति को अपने आप में एक अलग इकाई के रूप में परिभाषित किया जा रहा है जबकि जाति एक समूह के रूप में ही (बहुवचन) अस्तित्व में रहती है। जाति को अपने आप में एक अलग इकाई मानना गलत है। जाति व्यवस्था को केवल समग्र रूप से ही समझा जा सकता है। अंत में डॉ. केतकर की परिभाषा का विश्लेषण करते हुए अम्बेडकर उनकी परिभाषा को विचारणीय मानते हैं। अम्बेडकर के अनुसार डॉ. केतकर की परिभाषा एक जाति को परिभाषित ना करते हुए विभिन्न जातियों की एक समग्र प्रणाली के संबंध को स्पष्ट करती है। अम्बेडकर के अनुसार जाति की विशेषताओं में केवल उन्हीं विशेषताओं पर ध्यान केंद्रित किया जाना चाहिए जो एक प्रणाली के भीतर जाति के अस्तित्व के लिए आधारभूत हैं। अन्य सभी विशेषताओं को गौण मानकर बाहर रखना चाहिए। केतकर जाति को 'दो विशेषताओं वाला एक सामाजिक समूह' मानते हैं।

केतकर के अनुसार जाति की दो विशेषताएं हैं :

I- इसकी सदस्यता उन लोगों तक ही सीमित है जो इसके सदस्यों से पैदा हुए हैं।

II- इसके सदस्यों को एक कठोर सामाजिक कानून द्वारा अपने समूह के बाहर विवाह करने से प्रतिबंधित किया गया है।

किन्तु अम्बेडकर केतकर की परिभाषा से सहमत होने के बाद भी इस तथ्य पर बल देते हैं कि वास्तविकता में अंतर्विवाह निषेध और ऑटोजेनी अर्थात अपने ही सदस्यों की संतानों को उस जाति की सदस्यता देना; दो अलग–अलग विशेषताएं नहीं है। अम्बेडकर के अनुसार 'अंतर्विवाह निषेध' और 'ऑटोजेनी द्वारा सदस्यता' एक ही विशेषता के दो पहलू हैं। यदि जाति अंतर्विवाह पर निषेध होगा तो इसके परिणाम स्वरूप जाति की सदस्यता भी उसी विवाह के उत्पन्न होने वाली संतति तक सीमित हो जाएगी। इस प्रकार समूह के भीतर पैदा हुए लोगों के लिए ऑटोजेनी द्वारा सदस्यता वास्तविकता में अंतर्विवाह निषेध का ही परिणाम है (अम्बेडकर, कास्ट्स इन इंडियाः देयर मैकेनिज्म, जेनेसिस एण्ड डेवलपमेंट, सिलेक्टेड वर्क्स ऑफ डॉ. अम्बेडकर के अन्तर्गत, पृष्ठ 599–602:)।

इस आधार पर अम्बेडकर 'अंतर्विवाह निषेध' अर्थात सजातीय विवाह को जाति व्यवस्था की एकमात्र विशेषता मानते हैं। अम्बेडकर के अनुसार भारत में जाति का अर्थ जनसंख्या को निश्चित इकाइयों में कृत्रिम रूप से विभाजित करने से है। इन विभाजित इकाइयों में से प्रत्येक को सजातीय विवाह की प्रथा के माध्यम से दूसरी जातियों में विवाह करने से रोका जाता है। अर्थात सजातीय विवाह की प्रथा द्वारा एक जाति के सदस्यों को दूसरी जाति के सदस्यों में विलय होने से निषिद्ध किया जाता है। इसीलिए सजातीय विवाह ही वह एकमात्र विशेषता है जो व्यवहारिक रुप से इस बात को समझने के लिए मूल बिंदु है कि जाति की उत्पत्ति और जाति का तंत्र किस प्रकार कार्य करते हैं।

यद्यपि अम्बेडकर इस बात से सहमत हैं कि ऐतिहासिक रूप से बहिर्विवाह का प्रचलन मानव समाज के लिए कोई नया नहीं है। किंतु मानव समाज के विकास के साथ–साथ बहिर्विवाह ने अपना प्रभाव धीरे–धीरे कम किया है। वर्तमान में निकटतम रक्त संबंधियों के अतिरिक्त विवाह के क्षेत्र को प्रतिबंधित करने वाली कोई अन्य सामाजिक बाधा बहिर्विवाह के नियम के

रूप में स्पष्ट नहीं दिखती किंतु भारतीय समाज में बहिर्विवाह की प्रथा आज भी एक सकारात्मक निषेध बनी हुई है।

अम्बेडकर मानते हैं कि बहिर्विवाह के नियम के साथ कोई भी जाति नहीं हो सकती क्योंकि यदि जाति के बाहर विवाह की अनुमति दी जाएगी तो उसका अर्थ है एक जाति का दूसरी जाति से संलयन। इसीलिए बहिर्विवाह का उल्लंघन नहीं होना चाहिए। जाति के एक बन्द इकाई में बदलने की प्रक्रिया को अम्बेडकर 'बहिर्विवाह पर जाति अंतःविवाह' के अधिरोपण द्वारा समझाते हैं। 'जाति अंतःविवाह' के अधिरोपण के कारण विवाह को बाहर से रोकने का घेरा बनाने के साथ–साथ एक ही जाति के दो लोगों के बीच समानता बनाए रखने के लिए अंतःविवाह के नियम को लागू किया गया। जाति की समस्या इसके भीतर महिला और पुरुष दोनों लिंगों की विवाह–योग्य इकाइयों के बीच असमानता को सुधारने से जुड़ी हुई है। विवाह के पश्चात पति और पत्नी दोनों में से यदि पति की मृत्यु पहले हो जाती है तो अतिरिक्त महिला की समस्या उत्पन्न होती है। इसी प्रकार यदि पत्नी की मृत्यु हो जाती है तो अतिरिक्त पुरुष की समस्या भी उत्पन्न हो सकती है। इन अतिरिक्त पुरुषों और अतिरिक्त महिलाओं को यदि अपनी जाति द्वारा निर्धारित घेरे में उपयुक्त साथी नहीं मिलेंगे तो वे बहिर्विवाह के नियम का उल्लंघन कर सकते हैं। जाति के बाहर विवाह करने से उत्पन्न संतानें उस जाति के बाहर मानी जाएंगी। इसीलिए अतिरिक्त पुरुष और अतिरिक्त महिला की समस्या को अंतः विवाह के नियम के साथ बनाये रखने के लिए परम्परागत हिंदू व्यवस्था में तीन विशेषताएं सामने आयी –

i. सती प्रथा

ii. विधवा महिला के लिए अनिवार्य वैधव्य

iii. विधुर पुरुष का विवाह उस कन्या से कराना जो अभी विवाह योग्य ना हो।

ब्राह्मणों ने स्वयं को विशिष्ट रखने के लिए जातीय नियमों का पालन पूरी कठोरता के साथ करना प्रारंभ किया। अपनी ही जाति के अंदर किंतु गोत्र के बाहर विवाह करने करने के नियम की उत्पत्ति तो ब्राह्मण जाति से हुई किंतु गैर–ब्राह्मण जातियों में इसका प्रसार

'अनुकरण के संक्रमण' द्वारा हुआ। सबसे अधिक आदर्श की नकल करने की प्रवृत्ति मानव मन में गहरी बैठी हुई है। गैब्रियल टार्डे को उद्धृत करते हुए अम्बेडकर कहते हैं कि यह नकल सुरक्षित या सचेत रूप से जागरूक होकर नहीं की जाती है। इसके पीछे मनोवैज्ञानिक कारण होता है। मानव स्वभाव के अनुकरणीय भाग का मुख्य स्थान व्यक्ति का विश्वास है और व्यक्ति का यह विश्वास ही उसे प्रेरित करता है कि वह अनुकरण करे। गैब्रियल टार्डे के अध्ययन को उद्धृत करते हुए अम्बेडकर कहते हैं कि अवसर दिए जाने पर एक कुलीन वर्ग अपने नेताओं, राजाओं या संप्रभुओं और इसी तरह के लोगों की नकल करेगा। साथ ही इस अनुकरण की सीमा अर्थात तीव्रता सामाजिक दूरी के अनुपात में व्युत्क्रमानुपाती है। अनुकरण के संक्रमण यह प्रभाव मॉडल समझाने के लिए अम्बेडकर स्पष्ट करते हैं कि ब्राह्मण जाति को हिंदू समाज में सर्वोच्च प्रतिष्ठा मिली हुई थी क्योंकि इसमें ब्राह्मण को एक अर्ध–देवता माना गया है। इसलिए वही एक व्यवहार का परिमाण निश्चित करता है और उसी के अनुसार गैर ब्राह्मण जातियाँ उन नियमों का पालन करती हैं।

इसीलिए जो जातियां ब्राह्मणों के सबसे निकट है उन्होंने तीनों रीति–रिवाजों का अनुकरण कठोरता के साथ किया। जो लोग ब्राह्मण जातियों के कम निकट है उन्होंने वैधव्य और कन्या विवाह का अनुकरण किया। जो ब्राह्मण जातियों से थोड़ा और दूर है उन्होंने केवल कन्या विवाह की प्रथा का पालन किया और सब से दूर के लोगों ने केवल जाति सिद्धांत में विश्वास का अनुकरण किया। इस प्रकार जाति निर्माण की पूरी प्रक्रिया को वे अनुकरण के संक्रमण द्वारा स्पष्ट करते हैं। अनुकरण की यह क्रिया निम्न द्वारा उच्च की नकल करते हुए पूरे समाज में फैली (अम्बेडकर, कास्ट्स इन इंडियाः देयर मैकेनिज्म, जेनेसिस एण्ड डेवलपमेंट, सिलेक्टेड वर्क्स ऑफ डॉ. अम्बेडकर के अन्तर्गत, पृष्ठ 598–617)।

6.4 अस्पृश्यता के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण

अस्पृश्यता केवल एक सामाजिक विभेद नहीं है। समाज के विभिन्न सदस्य अलग–अलग खान–पान रखते हैं किंतु अस्पृश्यता खान–पान के प्रति एक वैयक्तिक रुचि से कहीं अधिक बढ़कर सामने आने वाला एक अत्यन्त विशाल विभेद है। यह समाज में विभिन्न श्रेणियों को

पृथक करने के साथ–साथ एक दूसरे के प्रति विरोधी समूह के रूप में भी स्थापित करता है। इसमें उच्च श्रेणी वाले सदस्य (उच्च जातीय समूह) अस्पृश्यों को स्वयं से पृथक रखने के लिए खान–पान, विवाह, अन्तर्क्रिया आदि के विभिन्न जातीय नियमों को सर्वोपरि रखते हैं। खानपान और सामाजिक अन्तर्क्रिया के ये प्रतिबंध धार्मिक मान्यताओं के आधार पर स्पष्ट किए गए हैं। जिसमें प्रत्येक पवित्र वस्तु को धार्मिक संस्कार के समय अपवित्र वस्तु से पृथक किया गया है। इस पूरी प्रक्रिया में पवित्रता का किसी भी प्रकार उल्लंघन या प्रदूषण होने के कारण पवित्रता का अतिक्रमण हो जाता है। इस अर्थ में अस्पृश्यता जातीय भेदभाव से कहीं अधिक गंभीर है क्योंकि अशुद्ध वस्तु से केवल धार्मिक संस्कार के समय पवित्रता का उल्लंघन होता है किंतु अस्पृश्य के स्पर्श से प्रत्येक समय पवित्रता का उल्लंघन होता है। इसी प्रकार अशुद्ध वस्तु के स्पर्श से केवल पवित्र वस्तु की पवित्रता का खंडन होता है जबकि अस्पृश्य के स्पर्श से सभी कुछ प्रदूषित होता है।

अम्बेडकर जातीय भेदभाव को अस्पृश्यता से इसी आधार पर अलग करते हैं कि यह धार्मिक आधार पर अस्पृश्यता को सम्पूर्ण समाज में किसी भी प्रकार के अतिक्रमण या उल्लंघन से रोकने पर बल देती है। सभी समय, सभी वस्तुओं और सभी व्यक्तियों से अस्पृश्य को पृथक रखना एक सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्थापित किया गया है।

जाति व्यवस्था की 'अस्पृश्यता के प्रति यह हिंसा' पवित्रता में किसी भी प्रकार का अतिक्रमण करने और पवित्रता को तोड़ने से रोकने के लिए है। इस अर्थ में जाति व्यवस्था अस्पृश्यता को जीवन के सभी आयामों में सभी वस्तुओं और व्यक्तियों से पृथक रखने के लिए जोर देती है। अस्पृश्यता को संपूर्ण समाज से पृथक रखने के लिए न केवल जोर दिया गया है अपितु इसे सर्वोच्च मूल्य के रूप में भी बताया गया है (अम्बेडकर, द अनटचेबल्सः हू आर दे एण्ड व्हाइ दे बिकेम अनटचेबल्स, पृष्ठ 139–140)।

वस्तुतः जाति व्यवस्था एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें जिसमें उच्चजातियों विशेषकर ब्राह्मणों ने अपनी स्वार्थपरता की पूर्ति के लिए ऐसे नियम बनाए जो अन्य निम्न जातियों, शूद्रों एवं अस्पृश्यों पर एक प्राधिकार के रूप में लागू किये (अम्बेडकरः सिलेक्टेड वर्क्स डॉ

अम्बेडकर पृष्ठ 95–97)।

अम्बेडकर चातुर्वर्ण एवं पंचम वर्ण के विचार से भी असहमत हैं। अम्बेडकर के अनुसार मनुस्मृति के काल में अपवित्रता तो थी किंतु अस्पृश्यता नहीं थी। यहाँ तक कि 'चांडाल' को भी अपवित्र माना गया था किंतु अस्पृश्य नहीं माना गया था। अम्बेडकर के अनुसार इसका अर्थ दासों से था ना कि अस्पृश्यों से। नारद स्मृति को उद्धत करते हुए अम्बेडकर कहते हैं कि इस पंचम वर्ण का अर्थ दासों से है (पूर्वोक्तः पृष्ठ 145–146)।

जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता के बीच सम्बन्ध

जातिगत भेदभाव एवं पक्षपातपूर्ण व्यवहार पर पूरी तरह से रोक लगाने के लिए अम्बेडकर सर्वप्रथम जातिगत भेदभाव और अस्पृश्यता में निहित असमानता को एक नवीन दृष्टिकोण के रूप में सामने रखते हैं। पूर्व प्रचलित विचारधाराओं में निम्न जातियों और अस्पृश्यों के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण को वे अपर्याप्त मानते हुए नकारते हैं। अम्बेडकर निम्न जातियों और अस्पृश्यों के प्रति शोषण और असमतावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए अस्पृश्यता को उसके वास्तविक स्वरूप में पहचानने पर बल देते हैं। वे मानते हैं कि अस्पृश्यता के वास्तविक प्रभाव को प्रकट करके ही इस समस्या की गंभीरता को समझा जा सकता है। अन्यथा इसके अभाव में अस्पश्यता का उन्मूलन संभव नहीं है। इसके लिए वे जाति व्यवस्था को एक सर्वाधिक अन्तर्निहित व्यवस्था के रूप में पहचानने पर बल देते हैं। अम्बेडकर के अनुसार जाति का सामाजिक प्रभाव, भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव इसकी दो मूल विशेषताओं से जुड़ा हुआ है। निम्नलिखित इन दो विशेषताओं को समझने के बाद ही यह समझा जा सकता है कि जातिगत विभेदकारी व्यवहार और अस्पृश्यों के प्रति असम्मानजनक मूल्य समाज में इतने अधिक समाविष्ट कैसे हुए –

1. ग्रेडेड इनिइक्वेलिटी अर्थात असमानता का श्रेणीकरण
2. जाति का नेचुरलाइजेशन अर्थात सहजीकरण

1. ग्रेडेड इनिइक्वेलिटी अर्थात असमानता का श्रेणीकरण

जाति व्यवस्था को समझने के लिए अम्बेडकर सर्वप्रथम इसी विचार पर प्रकाश डालते हैं कि जाति व्यवस्था में किसी भी एक जाति का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। जाति की प्रकृति समूहवादी है अर्थात जाति व्यवस्था का अस्तित्व विभिन्न जातियों के कारण ही संभव है। इस जाति व्यवस्था में किसी भी एक जाति की स्वयं में कोई अस्मिता नहीं है। जाति व्यवस्था में प्रत्येक जाति की अस्मिता और पहचान दूसरी जातियों के उसके साथ संबंध में ही निहित है। यह सीढ़ीनुमा जाति की सोपानिकी इसीलिए संभव है क्योंकि इसके अंतर्गत विभिन्न जातियाँ एक दूसरे के प्रति असमानता एवं पृथक्करण के संबंधों से जुड़ी हुई है। इस जातीय सोपानिकी में विभिन्न जातियों को शुचिता के होने या ना होने के आधार पर एक दूसरे के विपरीत रखकर उनके बीच के पृथक्करण सम्बन्ध स्थापित होते हैं। इस प्रकार सोपानिकी के प्रत्येक स्तर पर एक जाति की दूसरे से असमान प्रस्थिति के कारण जाति व्यवस्था में असमानता पृथक्करण को क्रमागत रूप से लागू करते हुए श्रेणीकृत कर देती है। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत असमानता के इस श्रेणीकरण में ब्राह्मण सर्वोपरि है। जबकि इसके पश्चात क्रमशः प्रत्येक नीचे आने वाली जाति अपनी प्रस्थिति को बचाने या संरक्षित रखने के लिए अपने से निम्न जातियों के प्रति अपमानजनक व्यवहार और असमान मूल्यों के पालन को ही प्रमुखता देती है। इसलिए शूद्र, ब्राह्मणों द्वारा अपने प्रति होने वाले असम्मानजनक व्यवहार से प्रताड़ित होने के बाद भी अस्पृश्यों को अपने से पृथक रखने के लिए जातीय भेदभाव के सभी नियमों का पालन करते हैं।

शूद्र, अस्पृश्यों को अपने से अपने से पृथक रखने के लिए वैसे ही पृथक्करण का व्यवहार करते हैं जैसे अपनी प्रस्थिति को सुरक्षित रखने के लिए ब्राह्मण जातियाँ। इस प्रकार जाति व्यवस्था में असमानता का श्रेणीकरण देखने को मिलता है। यह 'असमानता का श्रेणीकरण' परिवर्तन की सभी संभावनाओं से परे प्रतीत होता है क्योंकि इसमें निम्न जातियाँ भी उसी ब्राह्मणवादी विचारधारा से प्रभावित होकर जातिगत असमानता के सभी नियमों का पालन करती हैं जो उनके साथ जातीय हिंदू करते हैं। इस प्रकार यह असमानता के श्रेणीकरण का अनुरक्षण ऊपर के प्रस्तरों के साथ–साथ लगातार नीचे के प्रस्तरों तक किया जाता है। इसीलिए शूद्र, ब्राह्मण के प्रति असंतुष्ट होने के बाद भी तुलनात्मक रूप से अपनी उच्च

प्रस्थिति और उससे संबंधित प्राधिकार को संरक्षित करने के लिए अस्पृश्यों को स्वयं से पृथक रखने के आजीवन प्रयास करते हैं (अम्बेडकर, अनटचेबल्स ऑर चिल्ड्रन ऑफ इंडियास घेट्टो, सिलेक्टेड वर्क्स ऑफ डॉ. अम्बेडकर के अन्तर्गत, पृष्ठ 4051–4062)। प्रकार इस जाति व्यवस्था द्वारा असमानता की ऐसी व्यवस्था देखने को मिलती है जो परिवर्तन की संभावनाओं से परे प्रतीत होती है। क्योंकि इसमें निम्न जातियाँ, ब्राह्मणों के जातीय भेदभाव से असंतुष्ट होने के बाद भी अपने से तुलनात्मक रूप से निम्न प्रस्थिति वाले अस्पृश्यों से स्वयं को पृथक रखने के सभी नियमों का ठीक वैसे ही पालन करता है जैसे अन्य जातियों को पृथक रखने के लिए ब्राह्मण जातियाँ।

2. जाति का नेचुरलाइजेशन अर्थात सहजीकरण

असमानता के श्रेणीकरण के द्वारा जातीय भेदभाव जाति व्यवस्था की एक अंतर्निहित विशेषता बनती जाती है। इस सोपानिकी में प्रत्येक जाति अपनी उच्च प्रस्थिति को बनाए रखने के प्रयास में निम्न जातियों को स्वयं से पृथक रखने की सभी नियमों का पीढ़ी दर पीढ़ी पालन करती है। इस प्रकार असमानता का यह श्रेणीकरण निम्न जातियों में भी फैलकर व्याप्त होता जाता है। इस श्रेणीकृत असमानता में अपनी अस्थिर प्रस्थिति को बचाए रखने के लिए ब्राह्मणवादी नियमों और परंपराओं का पीढ़ी दर पीढ़ी पालन करने से इस जातीय भेदभाव की प्रवृत्ति को जाति व्यवस्था में ऊपर से नीचे तक के अनुक्रम में फैलकर व्याप्त होती जाती है। जातीय भेदभाव की इस प्रवृत्ति को अम्बेडकर ने 'अनुकरण के संक्रमण' कहा है। इसीलिए असमानता के श्रेणीकरण के साथ–साथ जातिगत पक्षपात न केवल संस्थापित होता जाता है अपितु इसका समाज पर दुष्प्रभाव होने के बाद भी है इस सामाजिक रूप से एक वैध एवं नियमित व्यवस्था के रूप में चलता रहता है (अम्बेडकर, कास्ट्स इन इंडिया, पृष्ठ 18 – 20)। असमानता का श्रेणीकरण और जाति का सहजीकरण 'अस्पृश्यों के प्रति जातीय हिंसा को स्वतः चलाने अविरल माध्यम' बन जाता है। इस प्रकार अम्बेडकर अस्पृश्यता के प्रति अपने नवीन दृष्टिकोण को सामने रखते हैं। इस अस्पृश्यता का मूल आधार अनुभवात्मक है। अस्पृश्यता का यह आयाम जाति के सुधारवादी दृष्टिकोणों में विशिष्ट है। अनुभवात्मक आधार की इसी विशेषता के कारण अम्बेडकर अस्पृश्यता को

अनुमान पर आधारित अटकलबाजी से बाहर निकालकर एक अनुभूत, पक्षपातपूर्ण और गुणवत्ताविहीन वाले जीवन के ठोस आधार और मूल कारण के रूप में दिखाने में सफल होते हैं।

6.5 सारांश

अम्बेडकर से पहले अधिकांश दलित–सुधारवादी अस्पृश्यों के अनार्य की पहचान के दावे को लेकर चल रहे थे। किंतु इन सबसे अलग अम्बेडकर ने सुधारवादियों द्वारा अस्पृश्यों की अनार्यों के रूप में पहचान की व्याख्या को पूरी तरह से निरस्त कर दिया था। उनकी पुस्तक 'हू वर द शुद्राज' और 'द अनटचेबल्स' के साथ–साथ दो अप्रकाशित पांडुलिपियों 'रिवॉल्यूशन एंड काउंटर रिवॉल्यूशन इन एंशियेन्ट इण्डिया' तथा 'द अनटचेबल्सः चिल्ड्रन ऑफ इण्डियाज घेट्टो' के द्वारा जाति के नस्ल की व्याख्या को अवैज्ञानिक मानते हुए उसे नकार दिया है (गेल ओमवेटः 2011, पृष्ठ 54–55)। अम्बेडकर जाति को किसी भी वैज्ञानिक आधार पर तार्किक सिद्ध किए जाने से पूर्णतया असहमत हैं। अम्बेडकर ने अपने पूरे दृष्टिकोण में जाति की उत्पत्ति और प्रणाली में वैचारिक और धार्मिक कारणों को समझने पर ही बल दिया है। उन्होंने जाति की आर्थिक, व्यावसायिक, और प्रजाति सम्बन्धी सभी व्याख्याओं का खण्डन किया है। अम्बेडकर जातिगत विभेदकारी व्यवहार और पक्षपात का विस्तार से विश्लेषण करते हैं किंतु उनके विश्लेषण का केंद्र अस्पृश्यों के प्रति होने वाली हिंसा को समझना और दिखाना है। वे अस्पृश्यता के प्रति हिंसा को समझने का प्रयास इसलिए करते हैं क्योंकि वे इसका उन्मूलन करना चाहते हैं। दूसरे महत्वपूर्ण बिंदु के रूप में यह भी स्पष्ट है कि अम्बेडकर ने जाति में अस्पृश्यों को सबसे दीन–हीन माना है। अस्पृश्यों की सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक कमियों को दूर करने के लिए उनकी एक अलग राजनीतिक पहचान स्थापित की है। इसके कारण अस्पृश्यों के प्रति पक्षपात को आपराधिक कृत्य के दायरे में लाने में उन्हें सफलता मिली। अस्पृश्यता उन्मूलन के उनके परिप्रेक्ष्य को तीन चरणों में समझने का प्रयास किया जा सकता है :–

1. उच्चजातीय–हिंदुओं के साथ अस्पृश्यों को मिलाने के लिए सभी क्षेत्रों में अस्पृश्यता

का उन्मूलन

2. अस्पृश्यों की राजनीतिक सक्रियता एवं संगठनों का विकास

3. बौद्ध धर्म में मतांतरण

साउथबरो कमेटी (1919); साइमन आयोग (1928); और गोलमेज सम्मेलन (1930–31) के माध्यम से अस्पृश्यों के नागरिक अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए अम्बेडकर ने विशेष निर्वाचन क्षेत्र की मांग की। अम्बेडकर के अनुसार मुसलमानों के लिए यदि अलग निर्वाचन क्षेत्र स्वीकार कर लिए गए थे तो अस्पृश्यों के सदैव से अल्पमत में होने के कारण पृथक निर्वाचन क्षेत्र कहीं अधिक व्यवहारिक थे। स्वतन्त्र भारत के प्रथम कानून मंत्री के तौर पर उन्होंने जातीय भेदभाव को दूर करने के लिए संवैधानिक उपचारों और सामाजिक विधानों को दिशा दिखायी। मंदिरों में प्रवेश करने और पूजा करने का अधिकार, सार्वजनिक संस्थानों में प्रवेश के लिए किये गये आन्दोलनों के फलस्वरूप अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम 1955 देश का पहला अधिनियम बना। आगे चलकर इसने नागरिक सुरक्षा अधिनियम 1976 के आधार के रूप में काम करते हुए अस्पृश्यों पर किये जाने वाले अत्याचारों के निवारण को तीव्रता और विस्तार प्रदान किया। यद्यपि इन सुधारों से अम्बेडकर पूर्णतया संतुष्ट नहीं थे। सुधारों के घोषणापत्र पर बार–बार होने वाली जातीय हिंदुओं की तीखी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अम्बेडकर ने 1951 में मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया। जातीय भेदभाव के विरुद्ध एक प्रतिक्रान्ति के रूप में 14 अक्टूबर 1956 में पाँच लाख अनुयायियों के साथ उन्होंने बौद्ध धर्म को अंगीकृत किया।

6.6 शब्दावली

अंत्य, अंत्यज और अंत्यवासीः अम्बेडकर अंत्य, अंत्यज और अंत्यवासी शब्दों को अन्ता धातु से उत्पन्न मानते हैं। अंत्य का अर्थ शूद्र से नहीं है क्योंकि शूद्र वर्ण व्यवस्था के अंदर रहते हैं जबकि अस्पृश्य अवर्ण है क्योंकि वे वर्ण व्यवस्था के बाहर है और बाद में जुड़े हैं। अंत्य शब्द गाँव के अंत अर्थात बाहर बसे हुए लोगों से है। इसलिए अस्पृश्य ही अंत्य, अंत्यज

और अंत्यवासी हैं। इसे अम्बेडकर 'बसे हुए लोगों के देवताओं' और 'अंत्यजों और अंत्यवासियों के देवताओं' के अलग–अलग होने के कारण उचित मानते हैं।

ब्रोकन मैन थ्योरी या टूटे हुए व्यक्तियों का सिद्धाँत : अम्बेडकर के अनुसार मानव समाज का प्रारम्भिक परिवेश जनजातीय था। समाज के साथ–साथ जब कृषि का विकास हुआ तो कृषि को आजीविका के साधन के रूप में अपनाने वाले मानव समुदाय व्यवस्थित रूप से एक आबादी के रूप में बस गए। इन्होंने एक स्थान पर रहकर कृषि करना प्रारम्भ किया। जबकि वहीं दूसरी ओर कुछ समुदाय यायावर अर्थात चलवासी बने रहे। इन यायावर लोगों को भोजन और आश्रय की असुरक्षा का सामना करना पड़ता था। स्थिर रूप से बसे हुए समुदाय के लोगों को भी अपने संसाधनों की रक्षा करने के लिए दूसरे समुदाय के लोगों से युद्ध करना पड़ता था। अपने समुदाय की स्त्रियों, मवेशियों, खाद्य और चारे आदि की सुरक्षा करने के लिए 'बसे हुए लोगों' और 'यायावर या खानाबदोश लोगों' के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते में बसे हुए समुदाय की सुरक्षा करने के बदले यायावर या खानाबदोश लोगों को आश्रय और भोजन दिया जाना था। सुरक्षा करने की दृष्टि से ये बसे हुए समुदाय की सीमा के बाहर बसे थे। अम्बेडकर सीमा के बाहर रहने वाले इन्हीं लोगो को अंत्यज या अंत्यवासी और अस्पृश्य मानते हैं। ये टूटे हुए व्यक्ति या खंडित व्यक्ति उस समुदाय के साथ रहने पर भी अलग रखे गए। व्यवस्थित रूप से बसे लोगों ने हिंदू धर्म को अंगीकार किया जबकि इन टूटे हुए लोगों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। कालांतर में इन दोनों के बीच सामाजिक दूरी बढ़ती गई। अम्बेडकर का टूटे हुए व्यक्तियों का सिद्धांत 'महाराष्ट्र के महार' समुदाय की सामाजिक आर्थिक स्थिति पर आधारित है।

महार समुदायः महार समुदाय महाराष्ट्र में सबसे बड़े अस्पृश्य समुदाय के रूप में जाना जाता है। महाराष्ट्र में गाँवो की सीमा पर एक दीवार होती है और महारों का घर इस दीवार के बाहर होता है। गाँव की सुरक्षा और रखवाली का काम महार करते हैं। महार हिंदू ग्रामीणों से भोजन एकत्र करने का, फसल तैयार होने पर मक्का एकत्र करने का और ग्रामीणों के मरे हुए मवेशियों को एकत्रित करने का अधिकार रखते हैं। महार के अधिकारों की ऐतिहासिकता को सिद्ध करने के लिए अम्बेडकर बताते हैं कि बीदर के मुस्लिम शासकों

द्वारा महारो के इस प्रकार के 52 अधिकारों को मान्यता दी गई थी। अम्बेडकर का तर्क है कि इससे सिद्ध होता है कि यह अधिकार और पुराने समय से चले आ रहे थे। इसी आधार पर अम्बेडकर स्पष्ट करते हैं कि अस्पृश्य प्रारम्भ से ही गाँव के बाहर रहते थे। अस्पृश्य घोषित किए जाने के बाद उन्हें गाँव से निर्वासित नहीं किया गया है। प्राचीन काल से ही वे गाँव के बाहर रहते थे। क्योंकि वे बसे हुए समुदाय का अभिन्न नहीं थे। वे टूटे हुए व्यक्ति या ब्रोकन मैन थे।

सांस्कृतिक एवं सभ्यता सम्बन्धी कारक : अम्बेडकर ने स्पष्ट किया कि मगध तथा मौर्य साम्राज्य के उत्थान के समय जब बौद्ध धर्म अपने विकास के चरम पर था, उसके बाद ही हिंदू धर्म के प्रतिक्रांतिकारी समय में मनुस्मृति तथा वर्गों का जाति में परिवर्तन को देखा जा सकता है। ब्राह्मणवाद द्वारा बौद्ध धर्म पर हिन्दू धर्म की विजय पाने के लिए जातिगत भेदभाव के नियमों को पूरी कठोरता के साथ प्रभावी बनाने का कार्य किया गया था (अम्बेडकर, रिवॉल्यूशन एंड काउंटर रिवॉल्यूशन, पृष्ठ 316–17)।

6.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. अम्बेडकर के अनुसार जाति व्यवस्था की प्रणाली किस प्रकार कार्य करती है?

.....

.....

.....

.....

2. अम्बेडकर के अनुसार जाति व्यवस्था की क्या विशेषताएँ हैं ?

.....

.....

.....

.....

3. अम्बेडकर की अस्पृश्यता की क्या अवधारणा है ?

.....

.....

.....

.....

4. जाति व्यवस्था का भारतीय समाज पर क्या दुष्प्रभाव है ?

.....

.....

.....

.....

5. ब्रोकन मैन थ्योरी की व्याख्या कीजिए?

.....

.....

.....

.....

6.8 अग्रिम पठन सामग्री

- गेल ओमवेट (2011): दलित दृष्टि, अनुवाद रमणिका गुप्ता एवं अकील कैस वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
- बी आर अम्बेडकर (1917): कास्ट्स इन इंडियाः देयर मैकेनिज्म, जेनेसिस एण्ड डेवलपमेंट, सिलेक्टेड वर्क्स ऑफ डॉ. अम्बेडकर के अन्तर्गत)।
- बी आर अम्बेडकर (1948): द अनटचेबल्सः हू आर दे एण्ड व्हाइ दे बिकेम अनटचेबल्स,, अमृत बुक कंपनी, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली।
- बी आर अम्बेडकर (1990) : डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर के लेख और भाषण, महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रकाशित। कॉपीराइटः सचिव, शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र सरकार।
- बी आर अम्बेडकर (2009): सिलेक्टेड वर्क्स ऑफ डॉ. अम्बेडकर https://drambedkarbooks.files.wordpress.com/2009/03/selected-work-of-dr-b-r-ambedkar.pdf द्वारा प्रकाशित।
- मीना बरदिया (2009): डॉ बी आर अम्बेडकरः 'हिज आइडियाज अबाउट रिलीजन एंड कन्वर्जन टू बुद्धिज्म', दि इंडियन जर्नल ऑफ पोलिटिकल साइंस, वॉल्यूम एल एक्स एक्स, संख्या–3, जुलाई–सितंबर, पृष्ठ संख्या 737–749।

खण्ड–2

इकाई-७ जाति पर लोहिया के विचार

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 श्रम विभाजन व्यवस्था में जाति और वर्ग

जाति और वर्ग का संयुक्त सांचा

7.3 जाति व्यवस्था में पृथक्करण

जति की क्षेत्रीय वास्तविकता

7.4 जाति का उन्मूलन

जाति उन्मूलन का वैधानिक आयाम

जाति उन्मूलन का वैचारिक आयाम

जाति उन्मूलन का सामाजिक आयाम

7.5 सारांश

7.6 शब्दावली

7.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.8 अग्रिम पठन सामग्री

7.0 उद्देश्य

इस इकाई में जाति को राममनोहर लोहिया के भारतीय समाजवादी परिप्रेक्ष्य से स्पष्ट किया गया है। लोहिया जाति को रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजरते हुए देखने का प्रयास करते हैं और जातिगत असमानता को आर्थिक असमानता दूर करने के लिए आवश्यक मानते हैं। लोहिया के जाति परिप्रेक्ष्य की विशेषता है कि यह भारतीय समाज के विशेष संदर्भ में जाति को वर्ग के संयुक्त सांचे में स्पष्ट करता है।

इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को स्पष्ट होगा कि

- लोहिया का जातीय परिप्रेक्ष्य किन धारणाओं पर आधारित है
- सामाजिक असमानता के जातीय आधार और वर्गीय असमानता के बीच क्या संबंध है।
- भारतीय संदर्भ में जातीय असमानता और लैंगिक असमानता के बीच क्या संबंध है।
- जाति का उन्मूलन करने की योजना में क्या विकल्प हो सकते हैं।
- लोहिया का जातीय परिप्रेक्ष्य किस सीमा तक जाति के आधुनिक स्वरूप और इसकी विशेषताओं को समझने में सहायक है।

7.1 प्रस्तावना

राम मनोहर लोहिया ने भारत की जाति व्यवस्था में असमानताओं, बहिष्करणों और शोषण को समझने के लिए एक अंतर–अनुभागीय दृष्टिकोण विकसित करने में प्रमुख योगदान दिया (आनंद कुमार 2010)। उनका अधिकांश समय एक विशिष्ट भारतीय प्रकार के समाजवाद को विकसित करके अन्याय से लड़ने में बीता। लोहिया का मानना था कि भारत में जाति व्यवस्था देश के वर्तमान भौतिक और आध्यात्मिक गिरावट का सबसे महत्वपूर्ण कारण है। जाति पर लोहिया का दृष्टिकोण उनके समकालीन दृष्टिकोण से काफी हद तक

अलग था। उस समय के अधिकांश समाजवादियों और वामपंथियों के विपरीत, उन्होंने खुद को वर्ग के सबसे अधिक उपयोग किए जाने वाले एकल तत्व तक ही सीमित नहीं रखा। अपने दृष्टिकोण में, लोहिया जाति में वर्ग को निहित मानते हैं।

नागरिक स्वतंत्रता के दमन के कारण भारतीय जनता की दयनीय दशा के लिए वे लोकतांत्रिक स्वतंत्रता के अधिकार को महत्वपूर्ण मानते हैं किंतु इस मार्ग में जाति आधारित भेदभाव को एक बड़ी बाधा के रूप में स्पष्ट करते हैं। जातिगत भेदभाव ही भारतीय समाज के पतन का महत्वपूर्ण कारण है। इतिहास को देखें तो, भारत पर बार–बार होने वाले बाहरी आक्रमणों तथा विदेशी शासन के शिकार होने के पीछे भी यह एक महत्वपूर्ण कारण है। हिंदू धर्म अब तक अपने अंदर उदारवाद और कट्टरता के झगड़े को जातिगत भेदभाव के कारण हल नहीं कर सका (लोहिया 1955)। सन् 1933 में बर्लिन से वापस लौटने के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अंतर्गत कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन और डॉ लोहिया द्वारा इसको समर्थन इस समाजवादी परिप्रेक्ष्य की प्रारंभिक अवस्था के रूप में समझा जा सकता है। लोहिया का समाजवादी लक्ष्य मार्क्सवाद को साम्राज्यवादी विरोधी शक्तियों के मार्गदर्शन का अवलम्ब मानता है किंतु इस कार्य को करने के माध्यम के लिए लोहिया 'लोकतांत्रिक प्रणाली और प्रक्रिया' को ही उचित मानते हैं।

7.2 श्रम विभाजन व्यवस्था में जाति और वर्ग

भारतीय समाज में असमानता को समझने के लिए वर्ग के एकल आधार को पूरे विश्लेषण के लिए उचित नहीं मानते हैं। भारतीय समाज में व्याप्त वर्गीय असमानता जातीय असमानता से जुड़ी है। लोहिया जाति में वर्ग को निहित मानते हैं। वे जाति और वर्ग दोनों को श्रम विभाजन की व्यवस्था के दृष्टिकोण से देखते हुए भारतीय सन्दर्भ में जाति और वर्ग की एक संयुक्त मैट्रिक्स पर कार्य करते हैं। लोहिया की समग्र चिंता सामाजिक न्याय को लेकर थी। यह सामाजिक न्याय प्रत्यक्ष रूप से देश की उन्नति से जुड़ा हुआ है। जिस देश के लोग एक नागरिक के बजाय स्वयं को एक जाति के सदस्य के रूप में देखेंगे, वहाँ

असमानताओं, बहिष्करणों और शोषण के दुष्परिणाम देश की एकता और समृद्धि के लिए घातक होंगे।

इस जनतांत्रिक समाजवाद में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्या की जड़ में लोहिया जाति की वैचारिक समस्या को देखते हैं और इस वैचारिक समस्या के प्रति अव्यावहारिक दृष्टिकोण का सशक्त विरोध करते हैं। समाज के पिछड़े वर्गों को सामाजिक समानता और तरजीही अवसर प्रदान करने की आवश्यकता पर इसीलिए बल देते हैं जिससे इन वर्गों को सदियों से चले आ रहे शोषण से छुटकारा मिल सके।

जाति और वर्ग का संयुक्त सांचा :

सदियों से चली आ रही इस शोषणकारी व्यवस्था को समझने के लिए वे निम्न जातियों के उस वंशानुगत व्यवसाय को चिन्हित करते हैं जो उन्हें निम्न प्रस्थिति और घटते हुए अवसरों के पुनर्उत्पादन में बांधे रखता है। उनके द्वारा विकसित किए गए जाति के इस अंतर–अनुभागीय दृष्टिकोण में जाति व्यवस्था द्वारा प्रभावी असमानताओं, बहिष्करणो और शोषण को समझने के लिए वे जाति को श्रम विभाजन की कार्यकारी योजना के रूप में देखते हैं। लोहिया का तर्क है कि जाति व्यवस्था श्रम विभाजन से अटूट रूप से जुड़ी हुई है। लोहिया के अनुसार जहाँ भी वंशानुगत उत्पादन के चालक कार्य कर रहे हैं, वहाँ जाति व्यवस्था किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहेगी।

जाति की जड़ें, जब भूमि के केंद्रीकृत स्वामित्व से जुड़ती हैं तो क्षत्रिय वर्ण के भू.स्वामित्व वाले वर्ग सामने आते हैं। इसी क्रम में क्षत्रिय वर्ण के साथ कार्य करने वाले सहयोगी संघटक तत्व के रूप में ब्राह्मण वर्ण भी होंगे। इस व्यवस्था में कृषि और अन्य विनिमय करने वाले वर्गों के रूप में वैश्य वर्ण होगा। किंतु जहाँ भी उत्पादन की विभिन्न शाखाएँ कारीगरी के वर्ग के विशिष्ट रूप में उत्पादन करती हैं, वहाँ शूद्र वर्ण का स्वरूप कार्य करता हुआ दिखता है।

वर्ण व्यवस्था के संयोजन के प्रति लोहिया का तर्क 'वर्ण के व्यवसाय से सीधे सम्बन्ध' की जटिलता में निहित है। वर्ण एक ही पेशे या व्यवसाय का बोध नहीं कराता। इसीलिए

ब्राह्मण वर्ण भी एक निश्चित पेशे से जुड़े होने का बोध नहीं कराता। वास्तविकता में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण केवल एक–एक पेशे में ही केंद्रित नहीं दिखते हैं। वास्तविक जीवन में वे अलग–अलग पेशे में उत्पादन करते हुए दिखते हैं। उदाहरणार्थ– वैश्य वर्ण के व्यक्ति व्यापारी, कृषक या पशुपालक भी हो सकते हैं। यद्यपि, जब निम्न जातियों को देखते हैं तो कुम्हार, लोहार, और चमार आदि का संदर्भ एक निश्चित व्यवसाय इंगित करता है । इस अर्थ में जातियों का वास्तविक स्वरूप केवल शूद्र वर्ण में ही देखने को मिलता है। अपने तर्क को विस्तार देते हुए लोहिया स्पष्ट करते हैं कि एक विशेष प्रकार के शिल्प के विकास के साथ–साथ उस शिल्पकार्य को करने वाले व्यक्तियों का समूह उस शिल्प के साथ जुड़ता जाता है। इस प्रकार सभी प्रकार के अलग–अलग दिखने वाले शिल्पों को श्रम विभाजन की व्यवस्था में एक साथ रख कर समझा जा सकता है।

लोहिया का तर्क जाति व्यवस्था के विकास और विस्तार को 'उत्पादन करने वाली विभिन्न शाखाओं में शिल्प–ज्ञान' के विकास और विस्तार से जोड़ने पर आधारित है। यहाँ लोहिया के दृष्टिकोण पर कार्ल मार्क्स के चिंतन का प्रभाव स्पष्ट दिखता है और जाति को समझने का एक विशेष भारतीय समाजवादी दृष्टिकोण जातीय परिप्रेक्ष्य में प्रस्फुटित होता है। उत्पादन की असंख्य शाखाएँ समाज के अंतर्गत कार्य करते–करते विभिन्न समूहों को विनिमय के संबंधों द्वारा जोड़ती हैं। उत्पादन और विनिमय की प्रक्रियाओं में व्यक्ति नहीं अपितु समूह या समाज भाग लेते हैं। इसीलिए उत्पादन और विनिमय की प्रक्रियाओं में प्रतिभाग और जुड़ाव भी सामूहिक रूप से ही घटित होता है।

7.3 जाति व्यवस्था में पृथक्करण

जाति व्यवस्था में पृथक्करण और शोषण के वास्तविक धरातल को समझने के लिए इसे जाति व वर्ग के संयुक्त रूप में ही देखा जा सकता क्योंकि शिल्प की शाखाओं में विभाजन शूद्र वर्ण के वर्गों से ही जुड़ा हुआ है। इसे एक जन्मजात और स्थिर वर्ग कहा जा सकता है जो निम्न जाति के लोगों को निम्न और पिछड़े पेशे में बंद कर निम्न बनाए रखने में अनुकूल भूमिका निभाता है। इन निम्न जातियों के लोगों की पहुँच उच्च जाति के पेशे तक

नहीं होती। इस स्थिति में यह असमानता सदैव बनी रहेगी क्योंकि निम्न जातियाँ यथावत पिछड़ी बनी। अर्थात्, असमानता भेदभाव और शोषण की प्रक्रिया यथावत चलती रहेगी। जाति व्यवस्था ने सदियों से कुछ लोगों को उच्च वर्गीय और मानसिक गतिविधियों में विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए बढ़ावा दिया जबकि अन्य लोगों को कारीगरी और शिल्प वाली हस्त–श्रम एवं शारीरिक–श्रम वाली गतिविधियाँ करने की व्यवस्था में बांधकर रखा। इसीलिए वंशानुगत व्यवस्था के बने रहने की स्थिति में शूद्र वर्ण के वर्ग अर्थात निम्न जातियां यथावत पिछड़ी बनी रहेंगी।

जाति और लिंग के दो कटघरे :

आनंद कुमार (2010) के अनुसार, लोहिया ने सैद्धांतिक रूप से महिलाओं को 'उच्च जातियों' में निहित नहीं माना। उनका मानना था कि महिलाओं को जाति की परवाह किए बिना सभी शासक समूहों से वर्जित किया गया था। चूंकि उन्होंने जाति के आयाम को लिंग के आयाम से अलग करके देखा, इसलिए वे भारतीय पुरुषों की विभिन्न श्रेणियों, जैसे अमीर और ऊंची जाति, गरीब लेकिन ऊंची जाति, अमीर लेकिन निचली जाति और गरीब और निम्न जाति, को पहचान सकते थे। इसीलिए जाति के साथ लिंग के कटघरे को भी समझना नितांत आवश्यक हो जाता है। आधुनिक आर्थिक ढांचे के जरिए गरीबी मिटाने कर इन कटघरे को गिराने का विचार मिथ्या है (लोहिया 1955, 53)। यहां वे अंतर–जातीय विवाह पर प्रतिबंध को जाति की दूसरी विशेषता के रूप में स्पष्ट करते हैं। इस प्रतिबंध के कारण जाति की परंपरागत व्यवस्था यथावत चलती रहती है।

जाति की क्षेत्रीय वास्तविकता :

उन्होंने 'उच्च जाति' को केवल 'द्विजों' तक ही सीमित नहीं रखा। उन्होंने तुरंत पहचान लिया कि विशेष रूप से दक्षिणी और पश्चिमी राज्यों में 'गैर–द्विज' शक्तिशाली जातियाँ भी थीं। इससे पता चलता है कि लोहिया का दृष्टिकोण जाति की क्षेत्रीय वास्तविकताओं के प्रति संवेदनशील था और वे सभी जातियों को एक ही नजर से नहीं देखते थे। साथ ही, उन्होंने लोगों से शक्ति संबंधों के जाति–केंद्रित सिद्धाँतों से परे जाने का आग्रह किया। वे

सिद्धाँत जो औपनिवेशिक काल से ब्राह्मण विरोधी और गैर–ब्राह्मण विचारकों के बीच लोकप्रिय थे, वास्तविकता में ब्राह्मण प्रभुत्व पर केंद्रित थे। लोहिया के अनुसार जाति व्यवस्था के ब्राह्मण–केंद्रित दृष्टिकोण पर आधारित अधिकांश जाति–विरोधी आंदोलन 'जाति–विरोधी' की तुलना में 'ब्राह्मण–विरोधी' अधिक थे और यह आगे बढ़ने का गलत रास्ता था। उनकी समग्र चिंता न्याय को लेकर थी। इसीलिए वे दक्षिण भारत में ब्राह्मण और गैर–ब्राह्मण के बीच बढ़ते टकराव को उचित नहीं मानते (लोहिया 1964, 143–144)। लोहिया का विचार है कि यदि जाति प्रथा को तोड़ना है तो उसे समता के नए दृष्टिकोण से ही तोड़ा जा सकता है। अन्यथा पुरानी जाति प्रथा को हटाकर एक नई जाति प्रथा बन जाएगी (लोहिया 1955, 66)।

7.4 जाति का उन्मूलन

जाति के दुष्प्रभाव की व्यापकता अत्यन्त विकराल है। देश में चाहे कितने भी राजनीतिक दल हों, चाहे वे पूंजीवादी विचारधारा के राजनीतिक दल हों या समाजवाद के, उन सब में एक अचेत मिलन है। क्योंकि उन सब के नेता द्विज हैं इसीलिए कोई भी राजनीतिक दल द्विजों और शूद्रों के बीच की खाई को पाटने के काम नहीं कर सका। राजनीतिक क्रांति की बात तब तक व्यर्थ है जब तक सामाजिक उथल–पुथल की चेष्टा साथ–साथ ना चले (लोहिया 1955, 70–71)।

जन्म के आधार पर जाति प्रथा और जातिगत व्यवहार की निंदा करते हुए वे सामाजिक समता के पक्षधर हैं। लोहिया के विचार में पहले स्तर पर यह आवश्यक है कि जाति आधारित इस परंपरागत विषम–समाज में सभी को समता देने के लिए पिछड़े वर्गों, महिलाओं, हरिजनों, आदिवासियों तथा वंचित अल्पसंख्यकों को उन्नत वर्गों के स्तर तक उठाने के लिए विशेष अवसर देने होंगे।

लोहिया का जाति के प्रति दृष्टिकोण जन्म के आधार पर जाति प्रथा के विरोध और नाश और पिछड़ों को विशेष अवसर देने के लिए संगठित प्रयास करने पर आधारित है। लोहिया

के अनुसार, राजनीति, सेना, व्यापार और उच्च वेतन वाले सरकारी व्यवसायों में उनकी उपस्थिति बेहद कम थी। देश की प्रगति पर कोई भी बहस ऊपर उल्लिखित इन समूहों के प्रतिनिधित्व के बिना नहीं हो सकती। तीन विशेषताएं भारत के शक्तिशाली वर्गों को इन पिछड़े समूह अलग करती हैं (आनंद कुमार 2010) :

i. ऊँची जाति
ii. अंग्रेजी शिक्षा
iii. धन

यद्यपि, यह जाति का तत्व ही पूरी स्थिति को लगभग निराशाजनक रूप से अपूरणीय बना देता है (लोहिया 1959)।

जाति उन्मूलन का वैधानिक आयाम :

जाति व्यवस्था के उन्मूलन के लिए वैधानिक और राजनीतिक स्तर के साथ–साथ और सामाजिक और वैचारिक स्तर पर भी जातीय विभेद को दूर करने के लिए जागरूक प्रयास करना आवश्यक है। लोहिया, वैधानिक आयाम में ही उन सभी पिछड़े वर्गों को अधिमान्य अवसर दिए जाने की बात करते हैं, जिनका हजारों वर्षों से परम्परागत तरह से उत्पीड़न और दमन होता आ रहा था। इसके अन्तर्गत वे शूद्रों, हरिजनों, पिछड़ी जातियों, आदिवासियों, मुसलमानों और महिलाओं को एक साथ रखते हैं। एक ठोस तात्कालिक उपाय के रूप में राजनीति, सरकारी सेवाओं, व्यापार और उद्योग में नेतृत्व पदों पर महिलाओं और शूद्रों , हरिजनों, आदिवासियों और धार्मिक अल्पसंख्यकों की पिछड़ी जातियों को 60 प्रतिशत की सीमा तक अधिमान्य अवसर दिया जाना आवश्यक है।

भूमिहीन जातियों को भूमि के पुनर्विभाजन कार्यक्रमों द्वारा भूमि उपलब्ध कराना आवश्यक है। गरीब किसानों, भूमिहीन और खेतिहर मजदूर के भविष्य में सुधार किए बिना भारत का विकास संभव नहीं है। इसीलिए उनके दृष्टिकोण में सामाजिक सम्बन्धों की आमूल

पुनर्व्यवस्था करने की आवश्यकता के साथ–साथ क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए वैचारिक आधार दोनों ही स्पष्ट रूप से परिलक्षियत होते हैं।

जाति उन्मूलन का वैचारिक आयाम :

समता के नए दृष्टिकोण में वैचारिक स्तर पर इसके दो पक्ष हैं। एक पक्ष में पिछड़े समूह और निम्न जातियों का है। निम्न जाति के लोगों की 'उदासीनता' को दूर करना आवश्यक है। दूसरी ओर 'सवर्णों के आधिपत्य को तोड़ना' भी आवश्यक है। यही कारण है कि समाजवाद के प्रश्न पर समकालीन राष्ट्रीय नेताओं से मत–विभेद के कारण उन्होंने कांग्रेस पार्टी का परित्याग कर सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की थी । उनका मानना था कि थोड़े बहुत कामचलाऊ सुधारो से संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता। उनका उद्देश्य समाज के पूरे ढांचे में आधारभूत परिवर्तन लाना था। कोई भी राजनीतिक क्रांति तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक भारतीय समाज के भेदभाव पर आधारित इस परंपरागत स्वरूप में बुनियादी बदलाव नहीं होता। इसलिए वर्ग के साथ– साथ जाति व्यवस्था का उन्मूलन करने के लिए प्रयास करने पर भी बल देते हैं। अन्यथा यह क्रांति अधूरी रह जाएगी।

जाति के उन्मूलन और बुनियादी बदलाव को प्रभावी बनाने के लिए वैचारिक स्तर के पहले पक्ष में पिछड़ी जातियों को उन बुराइयों से बचना होगा जो पहले से द्विज जातियों में दिख रही हैं। पिछड़ी जातियों के जो लोग नेतृत्व के पदों पर आते हैं उन्हें इर्श्या से छुटकारा पाते हुए दृढ़ चरित्र दिखाना होगा। निम्न जाति के लोगों की उदासीनता' को दूर करना आवश्यक है। पिछड़ी जातियों की इस उन्नति में एक सबसे बड़ी बाधा सत्ता में कुछ लोगों का आधिपत्य होना है। संसदीय चुनाव के लिए ऐसी पिछड़ी जातियों से नेतृत्व को आगे लाने का प्रयास किया जाना चाहिए। इन पिछड़ी जातियों से आने वाला नेतृत्व पिछड़ी जातियों में आत्मसम्मान, कार्य संतुष्टि और निडरता के भाव को बढ़ाएगा। किंतु जाति संकीर्णता पिछड़ों के लिए भी उतनी ही घातक है। इसलिए पिछड़ों और द्विजों दोनों को अपनी दृष्टि को व्यापक बनाना होगा। दृष्टि को व्यापक नहीं बनाने से वे व्यापक विषयों की बहस में पीछे रह जाते हैं। शूद्रों और पिछड़ों को उठाने के साथ–साथ उनको नेतृत्व के

पदों पर बैठाना, सहारा देना सलाह और बहस के द्वारा उनकी आत्मा को जगाना आवश्यक है। इस सामाजिक उथल–पुथल के बिना समाज का भला नहीं होगा। वही राजनीतिक दल देश में कुछ कर पायेगा जो इस सामाजिक उथल पुथल का अगुवा बनेगा।

जाति प्रथा को तोड़ने के लिए समता का दृष्टिकोण लाना आवश्यक है और इसके लिए वैचारिक स्तर के दूसरे पक्ष में द्विजों को भी प्रयास करने होंगे। जब तक द्विज अपने और शूद्रों के बीच की दूरी को सजग प्रयास करके समाप्त नहीं करते तब तक तब तक भारतीय समाज का उत्थान संभव नहीं है। शूद्रों और पिछड़ों में से नेतृत्व का निकलना जाति के उन्मूलन के लिए आवश्यक है। किंतु वह पिछड़ा या शूद्र ऐसा नेता नहीं होना चाहिए जिसके पीछे केवल शूद्र ही चलें। समता के लिए लड़ाई शूद्रों और पिछड़ों के अधिकारों की लड़ाई के साथ–साथ द्विजों के अधिकार की भी लड़ाई है (लोहिया 1955, 66–81)।

वे परंपरावादी समाजवाद की विचारधारा से अलग विकल्प पर कार्य कर रहे थे। समाजवादी आंदोलन समाजवादी को गैर–हिंसात्मक बनाने और लोकतांत्रिक प्रणाली द्वारा लागू करने के पक्षधर हैं। वे समाजवादी तो थे पर स्वयं को मार्क्सवादी नहीं मानते थे (सुरेंद्रनाथ द्विवेदी, 1990, 20)।

जाति उन्मूलन का सामाजिक आयाम :

सामाजिक समता के लिए जन्म पर आधारित जाति प्रथा और परम्परागत व्यवस्था का नाश होना आवश्यक है। इसी क्रम में, सामाजिक स्तर पर लोहिया उच्च और पिछड़ी जातियों के बीच अन्तर्क्रिया और मेलजोल बढ़ाने वाली सामाजिक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने पर बल देते हैं। इसीलिए लोहिया सामूहिक भोज और और अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों को जैसे मेले, नाटक के मंचन, खेलों आदि के आयोजन द्वारा इस सांस्कृतिक आदान–प्रदान और मेलजोल के माध्यम से पिछड़ी जातियों और उच्च जातियों के बीच की दूरी को कम करने को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हैं।

इस पूरे दृष्टिकोण का मूल तर्क यह है कि वर्ग संघर्ष के माध्यम से वर्गों के बीच की दूरी समाप्त करने के साथ–साथ यदि जाति व्यवस्था को तोड़ने के सजग और सामूहिक प्रयास

नहीं किए गए तो सामाजिक–आर्थिक विषमता को दूर करना संभव नहीं है। जाति व्यवस्था से अभिशप्त देश में सामंतवाद का अंत केवल वर्ग संघर्ष के द्वारा संभव नहीं है, इसीलिए आर्थिक विषमता और सामाजिक समानता को समाप्त करने का लक्ष्य जाति को समाप्त करने वाले संघर्ष से विमुख होकर पूरा नहीं किया जा सकता।

जाति व्यवस्था में व्याप्त आर्थिक विषमता और सामाजिक समानता को तोड़ने के लिए लोहिया का 31 मार्च से 2 अप्रैल 1961 के बीच आयोजित जाति तोड़ो सम्मेलन उल्लेखनीय है।

इस सम्मेलन में जाति को समाप्त करने के लिए कई प्रस्ताव पारित किए गए थे । पारित प्रस्ताव में मिश्रित भोज महत्वपूर्ण है। सम्मेलन में एक साथ सभी जातियों के भोज में सम्मिलित होने को विशेष रूप से आयोजित किए जाने को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया। इन रात्रि भोजों का आयोजन बिना किसी जाति या धर्म या वर्ग को देखे बिना करना है जिससे खान–पान पर प्रतिबन्ध को तोड़ने में भारतीय समाज के अन्तर्गत स्वीकारिता को व्यावहारिक रूप से बढ़ाया जाए बढ़ाया जा सके। ऐसे सामूहिक भोज के अतिरिक्त सजातीय विवाह के प्रतिबन्धों को दूर करने के लिए अन्तर–जातीय विवाह को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। अन्तर–जातीय विवाहों की स्वीकारिता के लिए ऐसी सामूहिक संगोष्ठियों और नाटकों इत्यादि का आयोजन किया जाना चाहिए जो पिछड़ी जातियों, शूद्रों के विवाह उच्च जातियों से कराने के लिए अनुकूल परिवेश बनाएं। केवल कानून बना कर या सरकारी प्रयासों से विवाह के इस प्रतिबंध को तोड़ना सम्भव नहीं है। समाज में इसकी स्वीकारिता बढ़ाने के लिए इससे समाज में होने वाले नुकसान के बारे में विचारों का आदान–प्रदान और जागरूकता आवश्यक है। इस अंतरजातीय विवाह में स्पष्ट रूप से द्विजों और शूद्रों के बीच अंतरजातीय विवाह की बात की गई। केवल उच्च जातियों की विभिन्न उपजातियों के बीच अन्तर–जातीय विवाह एकपक्षीय हैं ।

लोहिया के अनुसार उच्च जातियों के अन्तर्गत विभिन्न उपजातियों में होने वाले विवाह जाति व्यवस्था के प्रतिबंधों को तोड़ने के लिए आधे–अधूरे रहेंगे । सम्मेलन में यह प्रस्ताव में रखा

गया कि नाम के साथ लगाये जाने वाले जातीय शीर्षक का प्रयोग नहीं किया जाये। हजारों वर्षों से चलने वाली इस जाति व्यवस्था में बंधे शूद्रों, हरिजनों, और पिछड़ी जातियों को परम्परागत व्यवस्था से बाहर निकालने के लिए एक सकारात्मक बदलाव लाना आवश्यक है।

7.5 सारांश

उपरोक्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राममनोहर लोहिया का जाति परिप्रेक्ष्य सामाजिक समता और सामाजिक न्याय के लक्ष्य पर केंद्रित है । वे जाति को समाज की एकता के साथ–साथ राष्ट्र की उन्नति और विकास से जोड़कर देखते हैं। अम्बेडकर के समान लोहिया भी जातीय असमानता को समझने के लिए मौलिक चिंतन पर बल देते हैं । वे समान अवसरों से आगे बढ़कर समाज के पिछड़े वर्गों को अधिमान्य अवसर दिए जाने के पक्ष में है। उल्लेखनीय है कि अम्बेडकर के समान लोहिया के लिए भी समाज के वंचित और पिछड़े वर्ग में किसी एक जाति या समुदाय विशेष के व्यक्ति में सीमित नहीं करते हैं। वे इसमें हरिजन, शूद्र, आदिवासी, वंचित अल्पसंख्यकँ, स्त्रियों तथा मजदूरों को भी सम्मिलित करते हैं। अम्बेडकर और लोहिया दोनों ही निम्न जातियों के बंद व्यवसाय और विवाह को सामाजिक असमानता की समस्या का मूल मानते हैं। इस अर्थ में अम्बेडकर और लोहिया दोनों के जातीय दृष्टिकोण, जाति व्यवस्था की दमनकारी एवं शोषणकारी प्रणाली का व्यवस्थित विश्लेषण करते हुए जाति उन्मूलन के मौलिक प्रस्ताव के औचित्य को परिवर्तित होते हुए समाज के लिए अपरिहार्य मानते हैं ।

7.6 शब्दावली

अंतर–अनुभागीय दृष्टिकोण : सामाजिक असमानताओं के दो या दो से अधिक अलग–अलग आधार होने के कारण लोहिया जाति को सामाजिक भेदभाव और आर्थिक असमानताओं की व्यवहारिक योजना में समझने के लिए प्रयुक्त करते हैं।

समाजवाद : समाजवाद का प्रयोग व्यक्तिवाद के विरोध में और उन विचारों के समर्थन में किया जाता है जिनका लक्ष्य समाज के आर्थिक और नैतिक आधार को बदलना है। लोहिया के समाजवाद की अवधारणा मार्क्सवादी समाजवाद पर पूर्णतया आधारित नहीं है क्योंकि मार्क्स से ठीक विपरीत लोहिया लोकतंत्र में राजनीतिक प्रक्रिया के द्वारा समाज के आधार को बदलना चाहते हैं।

द्विज : द्विज का अर्थ है जिसने दो बार जन्म लिया हो । दो बार जन्म लेना एक सांकेतिक अर्थ को प्रदर्शित करता है। जो व्यक्ति माता के गर्भ से जन्म लेने के बाद 'शिक्षा और ज्ञान की दृष्टि से' (संस्कार और विद्या के अनुसार) जिस वर्ण को धारण करता है। जातीय असमानता की संकीर्ण विचारधारा में उच्च जातियों को (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) द्विज से जोड़कर देखा जाने लगा। ब्राह्मणवादी प्रारूप पर आधारित इस रूढ़िवादी मान्यता को लोहिया भारतीय समाज की कमजोरी मानते हैं।

सप्त क्रान्तियाँ – लोहिया समाज के सामाजिक आर्थिक और नैतिक आधार को बदलने के लिए सात लक्ष्यों को आदर्श मानते हैं। इन्हीं सात आदर्श लक्ष्यों सप्त क्रांति कहा जाता है। लोहिया सभी अन्यायों का एक साथ विरोध करने के पक्षधर थे। पहली, तीसरी और पांचवी क्रांति का सीधा संबंध जाति और वर्ग में निहित असमानता को जड़ से समाप्त करने से जुड़ा हुआ है(लोहिया 1966)। वे इस सामाजिक क्रांति को भारत ही नहीं अपितु पूरे विश्व के लिए महत्वपूर्ण और सर्वोपरि मानते हैं।

सात क्रान्तियाँ–

1. महिला–पुरूष की समानता के लिए।
2. त्वचा के रंग पर रची राजनीतिक और आर्थिक असमानता के विरुद्ध।
3. संस्कारगत, जन्मजात जातिप्रथा के खिलाफ और पिछड़ों को विशेष अवसर के लिए।
4. विदेशी गुलामी के खिलाफ और स्वतन्त्रता तथा विश्व में प्रजातंत्र के लिए।

5. निजी पूँजी की विषमताओं के विरुद्ध और आर्थिक समानता के लिए तथा योजना द्वारा पैदावार बढ़ाने के लिए।

6. निजी जीवन में अन्यायी हस्तक्षेप के खिलाफ और प्रजातान्त्रिक पद्धति के लिए।

7. अस्त्र–शस्त्र के खिलाफ और सत्याग्रह के लिये।

7.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. राममनोहर लोहिया के जाति के अंतर–अनुभागीय दृष्टिकोण की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए?

.....

.....

.....

.....

2. लोहिया द्वारा बताये गए जाति उन्मूलन के विभिन्न आयामों का विश्लेषण कीजिए?

.....

.....

.....

.....

3. राम मनोहर लोहिया का समाजवाद किन अर्थों में मौलिक और नवीन था?

.....

.....

.....

.....

4. राममनोहर लोहिया के समाजवादी लोकतंत्र की समकालीन भारतीय समाज में क्या भूमिका है?

.....

.....

.....

.....

5. जातीय असमानता लैंगिक असमानता से किस प्रकार संबंधित है?

.....

.....

.....

.....

6. सप्त क्रांति की अवधारणा किस प्रकार जाति उन्मूलन से संबंधित है?

.....

.....

.....

.....

7.8 अग्रिम पठन सामग्री

- आनंद कुमार (2010): अंडरस्टैंडिंग लोहिया'स पोलिटिकसोशियोलॉजीः इंटरसेक्शनैलिटी ऑफ कास्ट, क्लास, जेंडर एन्ड लैंग्वेज, इकोनामिक एंड पॉलीटिकल वीकली, वॉल्यूम 45 इश्यू नंबर 40, 02 अक्टूबर, पृष्ठ संख्या 64–70।
- लोहिया राममनोहर (1955): इतिहास चक्रः इतिहास का नया विश्लेषण और नया दृष्टिकोणए लहर प्रकाशन इलाहाबाद।
- लोहिया राममनोहर (1959): ए नोट ऑन इंडिया'स रूलिंग क्लासेस, मैनकाइंड, वॉल्यूम 4 संख्या 4, नवम्बर।
- लोहिया राम मनोहर (1964):दि कास्ट सिस्टम, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद।
- लोहिया राम मनोहर (1966):सात क्रान्तियाँ, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद।
- द्विवेदी सुरेंद्रनाथ (1990): डॉ राम मनोहर लोहिया, सुविख्यात सांसद मोनोग्राफ सीरीज, लोक सभा सचिवालय, नई दिल्ली पृष्ठ सं 20 ।
- https://janataweekly.org/lohias-quest-for-an-autonomous-socialism

खण्ड २

इकाई ८ जाति का क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन का अभिविन्यास

8.3 क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य के अनुभवजन्य अध्ययन :

8.4 क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से जाति की मूलभूत विशेषताएं

क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से जाति की सोपानिकी

क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से जाति का अंत : विवाही नियम

क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से जाति का व्यवसाय से निश्चित संबंध

8.5 सारांश

8.6 शब्दावली

8.7 बोधगम्य प्रश्नों के उत्तर

8.8 अग्रिम पठन सामग्री

8.0 उद्देश्य

इस इकाई में जाति के क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट किया गया है। क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक असमानता के जातीय आधार तथा इससे जुड़े अन्य आयामों का व्यवहारिक अध्ययन किया जाता है। जाति को, भारतीय समाज की भौगोलिक विभिन्नता और जातीय बहुलता के विशिष्ट अर्थों में समझने के लिए इस परिप्रेक्ष्य को सम्मिलित करना भी आवश्यक है। क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य इस धारणा पर आधारित है कि जाति एक स्थिर अवधारणा न होकर गतिशील अवधारणा है। जाति की यह गतिशील अवधारणा परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा प्रभावित भी होती है और जीवन के समस्त आयामों को प्रभावित भी करती है। इस अर्थ में क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य जाति के बारे में समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक अति महत्वपूर्ण और अभिन्न अंग है। क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य के द्वारा जाति के प्रति समझ का निरंतर विकास होने के साथ–साथ समाजशास्त्र में अध्ययन की पद्धति का भी विकास हुआ है। इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हम यह समझ सकेंगे कि

- क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य किस मूल धारणा पर आधारित है।
- क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य और 'पाठ या शास्त्र पर आधारित परिप्रेक्ष्य' के बीच क्या अंतर है।
- क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य, जाति के व्याख्यान और समझ को विकसित करने में क्या भूमिका निभाता है।
- क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य किस प्रकार जाति में गतिशील परिवर्तनों को स्पष्ट करता है।

8.1 प्रस्तावना

ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य और औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य ऐसे शास्त्रीय व्याख्यान हैं जो हिंदू शास्त्रों या ऐतिहासिक रिकॉर्ड से निर्मित हैं । शास्त्रों या पाठ से उपजा व्याख्यान, इंडोलॉजिस्ट और ओरिएंटलिस्ट द्वारा किए गए कार्यों से सामने आया है। क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य का उद्भव

और विकास, समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों के क्षेत्र कार्य पर आधारित अध्ययनों द्वारा हुआ है। ये अध्ययन, सहभागी अवलोकन और अन्य प्राथमिक तथ्य संकलन की प्रविधियों पर आधारित थे। क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य, सामाजिक वास्तविकता को समझने के लिए प्राथमिक तथ्यों का संकलन करता हैं। इस अर्थ में, क्षेत्रपरक अध्ययन प्राथमिक तथ्य संकलन और द्वैतीयक सामग्री जैसे पूर्व प्रचलित सिद्धांत, ऐतिहासिक रिकार्ड, सरकारी रिपोर्ट आदि के तार्किक संयोजन और शोध का उत्पाद है। इसी खंड की इकाई 05 और इकाई 09 में क्रमश : ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य और औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य जाति का जो चित्रण प्रस्तुत करते हैं वह जाति के एक आयाम को ही दर्शाता है। जबकि क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य, सैद्धांतिक धारणाओं और अवधारणाओं की तार्किक वैधता की छानबीन और जांच करने पर केन्द्रित है। इस प्रकार क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य, अनुभव पर आधारित अध्ययन के द्वारा सैद्धांतिक अवधारणा के सत्यापित करने और विरोधाभासों को स्पष्ट करता है।

शास्त्र पर आधारित होने के कारण, सामाजिक वास्तविकता का स्थिर पक्ष स्पष्ट होता है। जबकि क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन अनुभव पर आधारित होने के कारण सामाजिक वास्तविकता का व्यवहारिक पक्ष दर्शाता है। अर्थात क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन गतिशीलता के साथ करता है ।

8.2 क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य का अभिविन्यास

समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञान में सामाजिक वास्तविकता के दो आयाम हैं। अध्ययन की दृष्टि से यह आवश्यक हो जाता है कि सामाजिक वास्तविकता का दोनों आयाम के साथ संकलन किया जाए। इसी क्रम में जाति का क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य जाति व्यवस्था के प्रति सटीक समझ को विकसित करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। जो जाति की शास्त्र पर आधारित वास्तविकता को व्यवहारिक वास्तविक जीवन में गतिशीलता के साथ या गत्यात्मकता के साथ समझाने पर प्रकाश डालता है। क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य, जाति के बारे में बारीक और सटीक समझ को विकसित करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य और क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य के संतुलन द्वारा सामाजिक शोध और समाजशास्त्र के

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का विकास होता है। सामाजिक शोध इस मूल धारणा पर आधारित है कि सिद्धांतों और अवधारणाओं की तार्किक वैधता को क्षेत्रकार्य के अनुभवजन्य सत्यापन के माध्यम से देखा जाए। इस अर्थ में, समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों के द्वारा किए गए अनुभवात्मक अध्ययन, भारतीय समाज में जाति की वास्तविकता पर नवीन प्रकाश डालते हैं। इसमें जाति का अध्ययन सामाजिक गतिशीलता के आयाम को समझने और संकलित करने के उद्देश्य से प्रेरित होता है।

क्षेत्रपरक दृष्टिकोण के अभिविन्यास का केन्द्र सामूहिक व्यवहार का विषयपरक अध्ययन करने पर होता है। एक समाज में अलग–अलग क्षेत्रों में सामाजिक वास्तविकता अलग–अलग हो सकती है। परिवर्तन के आंतरिक एवं बाह्य कारकों के कारण सामाजिक वास्तविकता स्थिर न होकर गतिशील होती है। एम. एन. श्रीनिवास ने भारतीय समाजशास्त्र में पाठ या शास्त्र पर आधारित अध्ययन व समझ को क्षेत्रकार्य के अनुभवात्मक अध्ययन से अलग किया है। अन्द्रे बेते (2002) भी मानते हैं कि आदर्शों का अध्ययन कभी भी सामाजिक व्यवहार का विकल्प नहीं हो सकता। यद्यपि यह उल्लेखनीय है कि क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य स्वयं में पूर्णतया स्वतंत्र अध्ययन न होकर सिद्धांतों से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। इसे श्रीनिवास 'फील्ड व्यू' कहते हैं। यह मूल रुप से क्षेत्रकार्य के अनुभवात्मक अध्ययन के आधार पर सृजित ज्ञान है। सैद्धांतिक रूप से जाति की विशेषताओं और अन्य पक्षों की तार्किक वैधता की अनुभवजन्य जांच और सत्यापन क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य को विशिष्ट बनाते है।

पाठ या शास्त्रों पर आधारित अध्ययन किसी भी सामाजिक संस्था, विशेषकर जाति की मात्र एक स्थिर अवधारणा ही प्रस्तुत कर पाते हैं। जबकि भारत में अलग–अलग क्षेत्रों में व्याप्त विभिन्न जातियों, उप जातियों तथा उनके बीच संबन्धों का अध्ययन उसी क्षेत्र में जाकर करने से वास्तविक जीवन की स्थितियां स्पष्ट होती हैं। उदाहरण के लिए, ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य ब्राह्मणों की सर्वोच्च प्रस्थिति और अन्य जातियों की तुलनात्मक रूप से निम्न प्रस्थिति का एक सर्वसम्मत और अखिल भारतीय प्रारूप दर्शाता है किन्तु वास्तविक जीवन में प्रत्येक जाति की रैंकिंग अस्पष्ट और असहमति से परिपूर्ण है (अन्द्रे बेते 2002)। जाति का व्यवसाय से जो निश्चित और निर्धारित संबन्ध इस प्रारूप में परिलक्षियत होता है वह भी

वास्तविकता में बिल्कुल अलग दिखाई देता है। जाति सोपानिकी का भूमि स्वामित्व से संबन्ध भी क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य का ही महत्वपूर्ण योगदान है। जाति का क्षेत्रपरक अध्ययन विभिन्न जातियों की सोपानिकी के साथ–साथ उनके अंतर्संबंधों और जाति के व्यावहारिक जीवन पर प्रभाव का अध्ययन करता है।

एम. एन. श्रीनिवास ने दक्षिण भारत के 'कुर्ग' समाज का अध्ययन करके भारत में सामाजिक परिवर्तन की महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं के रूप में संस्कृतिकरण और पश्चात्यकरण को स्पष्ट किया । इस अध्ययन में देखा गया कि जाति व्यवस्था की सोपानिकी की कठोर प्रणाली में भी विभिन्न जातियाँ न केवल स्वयं को ऊंचा उठाने का प्रयास करती हैं अपितु वे सफल भी होती हैं। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में तुलनात्मक रूप से निम्न जाति अपनी एक–दो पीढ़ी में उच्च जातियों की जीवन शैली को अपना कर अपनी जीवन शैली को परिवर्तित करने का प्रयास करती है। इस प्रयास में वह जाति मांसाहार और मद्यपान को छोड़ने के साथ–सा अनुष्ठानों और दैनिक क्रियाकलाप में भी परिवर्तन करती है। यद्यपि इसे श्रीनिवास ने प्रारंभ में ब्राह्मणीकरण कहा किंतु स्वयं अनुभवजन्य सत्यापन के आधार पर उन्होंने अलग–अलग स्थान पर इस प्रक्रिया के अलग–अलग आयाम देखे। जिसमें यह स्पष्ट हुआ कि निम्न जातियां आवश्यक रूप से ब्राह्मण जातियों की जीवन शैली को ही नहीं अपनाती अपितु वे अपने स्थानीय स्तर पर किसी गैर–ब्राह्मण जाति का अनुकरण भी करती है।

8.3 क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य के अनुभवजन्य अध्ययन

क्षेत्रकार्य पर आधारित अध्ययन, विभिन्न जातियों के बीच प्रतिदिन के संबंधों की कार्यप्रणाली और गतिशीलता को समझते हुए इसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आयाम को स्पष्ट करता है। क्षेत्रपरक अध्ययन, जाति व्यवस्था की व्यवहारिक कार्य प्रणाली से परिचित कराता है। इस क्रम में क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य का बारीकी से मूल्यांकन करने के लिए कुछ ऐसे अध्ययनों को देखने का प्रयास किया जा सकता है जिनके द्वारा क्षेत्रपरक दृष्टिकोण का विकास हुआ। क्षेत्र कार्य पर आधारित कुछ अध्ययन इसी क्रम में सम्मिलित किये जा सकते हैं–

01. मैकिम मैरियट का अध्ययन (1955) : मैकिम मैरियट ने उत्तर प्रदेश के किशनगढ़ी गाँव के अध्ययन के द्वारा यह उजागर किया कि एक ही गांव में विभिन्न जातियों के लोग अलग–अलग व्यवसाय में कार्यरत थे किंतु सभी लोग जातियों को एक जैसा स्थान नहीं देते थे। यह देखा गया कि स्थानीय अनुक्रम में किसी जाति की प्रस्थिति को निर्धारित करने में खानपान और व्यावसायिक प्रतिबंधों की कोई एक विशुद्ध या सुनिश्चित भूमिका नहीं थी। सामिष जातियों जैसे धोबी और निरामिष जातियों जैसे चमार को स्थानीय पदानुक्रम में एक समान प्रस्थिति प्राप्त थी। पूर्व प्रचलित और पाठ पर आधारित धारणा के अनुसार ये मानदंड स्पष्ट, निर्विवादित और निरपेक्ष थे। किन्तु व्यवहारिक जीवन में मैरियट ने पाया कि जाति की प्रस्थिति का निर्धारण सुलभ और सरल नहीं था।

02. एफ. जी. बेली का अध्ययन (1957) : एफ. जी. बेली ने उड़ीसा के बीसीपारा गाँव का अध्ययन करके जातियों के परंपरागत अनुक्रम के साथ धर्मनिरपेक्ष संयोजन अर्थात राजनीतिक और आर्थिक पक्ष का भी अध्ययन किया। बेली के अनुसार, जब कोई जाति आर्थिक और राजनीतिक स्थिति पर आधिपत्य कर लेती है तो वह अन्य जातियों के साथ व्यवहार का तरीका भी बदल देती है। अर्थात धर्मनिरपेक्ष अनुक्रम पर आधिपत्य स्थापित करके अपनी स्थिति को ऊंचा करने का दावा पेश करती है। शास्त्रों या पाठ पर आधारित जाति के व्याख्यान इस प्रकार की किसी भी संभावना को पूरी तरह से असंभव मानते हैं जिसमें एक जाति आर्थिक और राजनीतिक रूप से शक्तिशाली होने के बाद स्थानीय अनुक्रम में अपनी प्रस्थिति को ऊंचा उठाने का प्रयास करे और सफल भी हो।

03. अंद्रे बेते का अध्ययन (1965) : अंद्रे बेते ने तमिलनाडु के श्रीपुरम गाँव का अध्ययन किया। बेते के अनुसार ब्राह्मणवादी सर्वोच्चता आवश्यक रूप से एक तथ्य नहीं है। ब्राह्मण कभी भी एक विशिष्ट पहचान अनुष्ठान या जीवन शैली का पालन नहीं करते हैं। ब्राह्मणों के बीच जातियों, उप–जातियों और उनके भी विखंडन हैं। इन उपखंडों में भी अंतःविवाह का नियम प्रचलन में है। इसलिए यह विश्वास करना मुश्किल हो जाता है कि ब्राह्मणों की विशेषता ऐतिहासिक, सतत और अविरल है। शक्ति और आधिपत्य के संबंध के लिए केवल

जाति की पहचान ही एकमात्र साधन नहीं है। कृषि योग्य भूमि का स्वामित्व भी शक्ति के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

04. ओ. एम. लिंच का अध्ययन (1974) : लिंच द्वारा आगरा के जाटवों पर किए गए अध्ययन में पाया गया कि संसदीय लोकतंत्र की प्रक्रिया के प्रभाव में जाटवों के बीच राजनीतिक सहयोग और एकजुटता मे वृद्धि हुई। अर्थात संस्कृतिकरण सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में एकमात्र प्रभावी साधन नहीं था। वे जाटव जो पहले संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अपना रहे थे, उन्होंने पारंपरिक संगठनों के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष संगठन का निर्माण किया। समानता के अधिकार के दावे को राजनीतिक और आर्थिक संसाधनों के द्वारा प्राप्त किया। इस प्रकार उन्होंने वह प्रस्थिति प्राप्त की जो परंपरागत जाति व्यवस्था में उन्हें प्राप्त नहीं थी।

05. रूडोल्फ एवं रूडोल्फ का अध्ययन (1987) : रूडोल्फ एवं रूडोल्फ ने अपने अध्ययन में उजागर किया कि जाति की प्रस्थिति को बदलने के लिए राजनीतिक पहचान एक महत्वपूर्ण संसाधन है। तमिलनाडु की अस्पृश्य जाति 'शनान' ने राजनीतिक चेतना, एकजुटता और अपने सजग प्रयासों से अपनी पहचान को नादारों के रूप में परिवर्तित करते हुए जाति की राजनीतिक पहचान और गतिशीलता का एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जो पाठ या शास्त्र पर आधारित परिप्रेक्ष्य में अनुपलब्ध था।

8.4 क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से जाति की मूलभूत विशेषताएं

समाजशास्त्रियों द्वारा जाति को समझने के लिए जो अनुभवजन्य अध्ययन किए गए, उनसे जाति की ऐसी विशेषताएं और आयाम स्पष्ट हुए जो पाठ या शास्त्र पर आधारित अध्ययन से बने व्याख्यान में उपेक्षित एवं अनुपलब्ध थे । जाति व्यवस्था को समझने के लिए पाठ या शास्त्र पर आधारित व्याख्यान जाति के तीन महत्वपूर्ण लक्षणों पर प्रकाश डालता है। पहले विशिष्ट लक्षण के रूप में जातियों का पदानुक्रम अर्थात जाति की सोपानिकी को महत्वपूर्ण माना गया है।

क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से जाति की सोपानिकी–

दिपांकर गुप्ता (2005) के अनुसार जाति की सोपानिकी को एकल, सर्वसम्मत एवं सर्वसुसंगत आदर्श के रूप में मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति द्वारा बढ़ा–चढ़ा कर व्यक्त किया गया था किंतु उन्नीसवीं सदी के इंडोलॉजिस्ट ने वास्तविकता में ब्राह्मणवादी दृ ष्टिकोण का और अधिक व्यापक प्रचार करके इस ब्राह्मणपूज्य सोपानिकी को अत्यधिक वरीयता दे दी। समकालीन साक्ष्य दर्शाते हैं कि बहुल और विविध जातियों को ऐसी एकल और अविश्वसनीय श्रेणीबद्ध ग्रिड में बंद नहीं किया जा सकता जिसमें शुद्ध और अशुद्ध जातियों की प्रस्थिति सुस्पष्ट, सुनिश्चित और बिना किसी समस्या के दृढ़ है।

श्रीनिवास ने प्रभु जाति की अवधारणा भी क्षेत्र कार्य के द्वारा जाति का अध्ययन करके विकसित की है। प्रभु जाति उस जाति को कहा जाता है जिसके सदस्यों की संख्या अधिक हो, एवं कृषि योग्य भूमि के भूमि के अपेक्षाकृत बड़े भाग पर अधिकार हो। साथ ही इसके सदस्य आर्थिक रूप से मजबूत और प्रभावशाली होते हैं तथा स्थानीय सोपानिकी में उनकी प्रस्थिति भी तुलनात्मक रूप से उच्च होती है। प्रभु जाति की अवधारणा सर्वसम्मत, सर्वसुसंगत प्रारूप से अलग जाती है क्योंकि प्रभु जाति का आवश्यक रूप से ब्राह्मण या द्विज जाति होना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए मैसूर के गांव में लिंगायत और ओक्कालिंगा; आंध्रप्रदेश में रेड्डी और कम्मां; तमिलनाडु में गौंडर, पद्याची और मुदलियार; केरल में नायर; गुजरात में पट्टीदार; उत्तर भारत में जाट, अहीर आदि। प्रभु जाति की अवधारणा का अलग–अलग क्षेत्र में अलग–अलग स्वरूप ले सकती है। स्वयं श्रीनिवास ने उन सभी आलोचनाओं को स्वीकार किया है किंतु इस अवधारणा से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं– (क) प्रभुत्व और आधिपत्य को जातीय आधार से जोड़ने से जाति की पहचान और राजनीतिक संयोजन की प्रक्रिया को बारीकी और सटीकता से समझा जा सकता है । (ख) जाति की स्थानीय भिन्नताओं और बहुलताओं को एक सर्वसम्मत अखिल भारतीय ब्राह्मणपूज्य प्रारूप के द्वारा समझा नहीं जा सकता है।

क्षेत्रपरक अध्ययनों ने इस श्रेणीबद्ध योजना की ब्राह्मणवादी अधिमूल्यन की मूलभूत समस्या को उजागर किया है। सेनार्ट (1930) और बूगल (1958) ने पहले ही इस एक आयामी व्याख्यान के श्रेणीबद्ध प्रारूप की मूलभूत समस्या को इंगित किया है। यद्यपि सोपानिकी जाति की एक प्रमुख विशेषता है किंतु इसके बाद भी जातियों को अलग–अलग इकाइयों के रूप में समझना और विश्लेषित करना आवश्यक है। वास्तविकता में पाठ या शास्त्र पर आधारित व्याख्यान में जाति की उदग्र संरचना और सम्बन्धों पर एक तरफ ध्यान दिया गया है जबकि जाति की क्षैतिज संरचना और संयोजन की संभावना व इसके प्रभाव को उपेक्षित किया गया है।

क्षेत्रपरक अध्ययनों में जातियों के बीच निरंतर प्रतिस्पर्धी धारणाएं मिलती हैं। ये प्रतिस्पर्धी धारणाएं उन मूल कथाओं से प्रतीकात्मक ऊर्जा और पोषण प्राप्त करती हैं जो प्रत्येक जाति के लिए विशिष्ट हैं। इन प्रतिस्पर्धी धारणाओं में प्रत्येक जाति स्वयं अपने लिए उच्च प्रस्थिति का दावा पेश करती है। जातियों की ये मूल कथाएं ऐसी लोक गाथाएं हैं जो स्थानीय हैं और ब्राह्मणवादी अनुक्रम के साथ सीधे–सीधे टकराव की स्थिति में हैं। इस सोपानिकी में प्रस्थिति आवश्यक रूप से शुचिता और प्रदूषण के मुद्दों से जुडी हुई नहीं है। लीच (1969) ने भी स्पष्ट किया है कि जब जातियाँ एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करती हैं तो वे एक व्यवस्था के रूप में कार्य नहीं करतीं। जब हम इस सोपानिकी को व्यवहारिक जीवन में देखते हैं तो अलग–अलग स्थान पर जातियों की रैंकिंग अलग–अलग दिखती है। जातियों की ये रैंकिंग इस बात पर भी निर्भर करती है कि किस जाति के पास स्थानीय सोपानिकी को अपने अनुरूप क्रियान्वित करने की शक्ति और संसाधन सुलभ हैं। कुछ मामलों में ब्राह्मण स्थानीय पदानुक्रम में अपनी स्थिति को सक्षम बना लेते हैं। जबकि अन्य मामलों में जाट, लोधी राजपूत और लिंगायत स्थानीय पदानुक्रम में अपनी स्थिति को ऊँचा बना लेते हैं। दिपांकर गुप्ता (2005) के अनुसार लुई डुमो के द्वारा प्रतिपादित व्याख्यान के ठीक विपरीत शक्ति और आर्थिक संसाधन केवल अंतरालीय स्तर पर ही प्रकट नहीं होते अपितु ये संपूर्ण जाति के अंदर तक उपजातियों और उनके भी उपखंडों में व्याप्त रहते हैं। यही कारण है कि जाति की पहचान की धारणा को ध्यान में रखना और विश्लेषण में स्थान देना अति महत्वपूर्ण है ।

इसके अभाव में जाति व्यवस्था के भीतरी तनाव को सटीक और पूरा समझना संभव नहीं होगा। इसलिए समकालीन समाज में किसान जातियों के साथ–साथ शूद्रों और अछूत जातियों के पहचान के दावों को सम्मिलित करना महत्वपूर्ण हो जाता है। इन जातियों ने वास्तविकता में कभी भी अपनी अधीनस्थ और अपमानित प्रस्थिति को वैचारिक रूप स्वीकार नहीं किया था। इन दावों को जाति के अनुभवजन्य और विश्लेषणात्मक उद्देश्यों के दृष्टिकोण से देखना अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से जाति का अंतःविवाही नियम –

डेविड पोकॉक (1954) और हेनरी ऑरेंन्स्टीन (1963) के अध्ययन बताते हैं कि विभिन्न निम्न जातियों और उच्च जातियों के बीच अनुलोम विवाह की वैधता एवं स्वीकृति देखी जा सकती है। अनुलोम विवाह का प्रचलन उससे कहीं अधिक है जितना हम विश्वास करना पसंद करते हैं। अनुलोम विवाह निम्न जाति को एक ऐसी रस्सी प्रदान करते हैं जिनका प्रयोग में वे अपनी सामाजिक प्रस्थिति को उठाने के लिए करते हैं। अनुलोम विवाह के माध्यम से निम्न जाति, उच्च जाति के साथ समानता का दावा करती है और अंततः उच्च जाति का नाम अपना लेती है। क्षेत्रपरक अध्ययन यह भी उजागर करते हैं कि जाति व्यवस्था का अध्ययन करने के प्रयासों में जाति को एक व्यवस्था के रूप में देखने के प्रवृत्ति के कारण जाति की उदग्र एकता को जाति की क्षैतिज एकता से कहीं अधिक प्रभावशाली माना गया। जाति सदैव व्यवस्था की तरह ही काम नहीं करती है। व्यावहारिक रूप से देखें तो व्यक्तिगत जातियां अलग ढंग से क्रियाशील हैं। अर्थात जाति की पारगम्यता एक व्यवस्था के रूप में कम होती जा रही है किंतु व्यक्तिगत जातियों के रूप में इसकी पारगम्यता बढ़ती जा रही है ए0 एम0 शाह (2007)।

क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से जाति का व्यवसाय से निश्चित संबंध –

जाति का तीसरा महत्वपूर्ण लक्षण जाति का व्यवसाय से निश्चित और प्रदत्त संबंध है। वंशानुगत व्यवसाय से जाति का प्रदत्त संबंध, जाति का वह पक्ष है जिस पर सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। जाति और व्यवसाय के बीच के

परम्परागत सम्बन्ध का प्रभाव लगातार कम होता जा रहा है। ए.एम. शाह (2007) के अनुसार समकालीन समाज में प्रत्येक जाति में बहुल व्यवसाय में लगे सदस्यों को देखा जा सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात नगरीकरण और औद्योगीकरण की प्रक्रिया के कारण जाति का वंशानुगत व्यवसाय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रभावित होना शुरू हुआ। धीरे–धीरे भारत में नव मध्य वर्ग का उदय और विकास होना प्रारंभ हुआ। यद्यपि, इसका आकार और क्षेत्र उन्नीसवीं शताब्दी में सीमित था किंतु 1991 के आर्थिक सुधारों के बाद मध्य वर्ग के व्यवसायों का विभेदीकरण बढ़ता गया। साथ ही साथ इन मध्यवर्गीय व्यवसायों का ग्रामीण और नगरीय समुदायों में विस्तार भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में एक नया बुद्धिजीवी वर्ग नव 'मध्य वर्ग' के एक भाग के रूप में उत्पन्न होना शुरू हुआ। जिसका सोपानिकी और समानता के लिए दृष्टिकोण परंपरागत दृष्टिकोण से अलग था। श्रीनिवास ने इस अभिविन्यास का अध्ययन 'पश्चिमीकरण' की प्रक्रिया के अंतर्गत किया है। यह नया वर्ग, इस अर्थ में पुरानी विचारधारा से अलग था कि इन्होंने परम्परागत सोपानिकी के प्रति सहज भाव न रखकर उससे विलग्न की प्रवृत्ति दर्शायी। श्रीनिवास इसे 'पश्चिमीकरण' इसीलिए कहते हैं क्योंकि यह प्रभाव पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी जीवन शैली तथा विचारधारा को अपनाने के कारण दृष्टिगोचर होता है। यह उल्लेखनीय है कि 'पश्चिमीकरण' एक व्यक्तिगत या पारिवारिक प्रघटना है न कि सम्पूर्ण जाति की। किंतु उसके बाद भी पश्चिमीकरण को उस परिवर्तन की शुरुआत के रूप में देखा जा सकता है जो आगे चलकर मध्य वर्ग में अपना स्वरूप लेता गया। श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण को नगरीय समुदाय में, विशेषकर बड़े शहरों में, रहने वाली ऊंची जातियों में पाया। 'पश्चिमीकरण' की इस प्रक्रिया में पश्चिमी शिक्षा और जीवन शैली के कारण खान–पान की आदतों के साथ–साथ जाति निर्धारित अनुष्ठानों से विलग्न देखा गया।

अंद्रे बेते (2002) स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि जातीय भेदभाव से जुड़े सामाजिक व्यवहार अभी भी भारतीय समाज में परिलक्ष्यित होते हैं किंतु इस जातीय भेदभाव की वैधता और प्रचलन अब वह नहीं है जो कभी पहले हुआ करता था। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय मध्य वर्ग में उच्च जातियों विशेषकर पुरुषों का आधिपत्य था। आधुनिकीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन

की अन्य प्रक्रियाओं के कारण मध्य वर्ग की संरचना में बड़ा परिवर्तन आया है। लगभग सभी जातियों के सदस्य मध्यवर्गीय व्यवसायों में देखे जा सकते हैं। निम्न जातियों और महिलाओं की कार्यालय, बैंक, न्यायपालिका, चिकित्सालय, पत्रकारिता, शिक्षण संस्थान जैसे गैर–हस्तश्रम वाले पेशे में सहभागिता में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। इसे एक दीर्घकालीन ट्रेन्ड के रूप में देखा जा सकता है। यद्यपि अभी भी उच्च जातीय पुरुषों की सहभागिता निम्न जातीय महिलाओं की सहभागिता की तुलना में कहीं कहीं अधिक है। अंद्रे बेते के अनुसार व्यवसाय की नई व्यवस्था एवं शिक्षा की नई व्यवस्था में 'प्रतिभा के लिए मुक्त पेशे' का रुझान बढ़ने के कारण अवसरों की समानता में वृद्धि हुई है। बेते इस दीर्घकालीन ट्रेंड को सावधानी के साथ जांचने की बात पर बल देते हैं। जाति आधारित 'सोपानिकीजन्य असमानता' जो प्रदत्त पद पर आधारित थी वह अब परिवर्तित होकर 'प्रतियोगिताजन्य असमानता' में परिवर्तित होती जा रही है। 'सोपानिकीजन्य असमानता' का आधार प्रदत्त अर्थात जन्म पर आधारित होने के कारण इसका प्रभाव अवसरों की समानता को बाधित करना था। इसके विपरीत समकालीन समाज में यह परंपरागत 'सोपानिकीजन्य असमानता' निरन्तर 'प्रतियोगिताजन्य असमानता' में बदलती जा रही है। मध्यवर्गीय व्यवसाय के विभेदीकरण से असमानता का स्वरूप बदल रहा है। ये नए प्रकार की असमानता आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ चलती है। अन्द्रे बेते के अनुसार इस प्रतियोगिताजन्य असमानता में प्रतियोगिता के द्वारा सफलता के नये अवसर समाज के सबसे वंचित लोगों के लिए भी खुले रहते हैं।

8.5 सारांश

क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य के उपरोक्त योगदान से जाति के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण और समझ का उल्लेखनीय विस्तार और परिवर्धन हुआ है। जाति के इस पूरे व्याख्यान से दो मुद्दों पर विशेष जानकारी मिलती है। ये दोनों मुद्दे– (क) जाति की गतिशीलता; और (ख) जातियों में विरोधाभास एवं अंतर्द्वन्द्व पर केंद्रित है। इन दोनों ही बिंदुओं पर जाति के अन्य परिप्रेक्ष्य मौन हैं। जाति की सामाजिक वास्तविकता को गतिशीलता के साथ समझने से

इसकी अभिव्यक्ति मुखर होती है और हम जान पाते हैं कि जातीय असमानता की पारगम्यता घरेलू क्षेत्र से लेकर राजनीतिक क्षेत्र तक व्याप्त है। इसी प्रकार जाति की पहचान के दावे और उससे जुड़े सभी सफल और असफल प्रयास जाति प्रघटना के उस विरोधाभास एवं अंतर्द्वन्द्व को दर्शाते हैं जो अन्य परिप्रेक्ष्यों में उपेक्षित रहा है। सामाजिक असमानता की जातीय जड़ों को समझने के साथ क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य समकालीन समाज में असमानता के बदलते हुए स्वरूप को भी समझ पाता है जिसमें 'सोपानिकीजन्य असमानता' धीरे–धीरे 'प्रतियोगिताजन्य असमानता' में परिवर्तित हो रही है। इस प्रकार क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य समकालीन समाज में जाति और राजनीति के संबंध को भी गहराई से समझ पाता है। जातियों की विशेष किन्तु स्थानीय लोक–गाथाओं से प्रारंभ होकर संगठन एवं आंदोलन के माध्यम से एक राजनीतिक दल के रूप में पहचान बनाने तक, यह परिप्रेक्ष्य जाति के प्रति स्थानीय समझ से प्रारंभ होता है किंतु निचले स्तर पर कार्य कर रहे ऐतिहासिक व सांस्कृतिक तत्वों से भी अवगत कराता है। उदाहरण के लिए उत्तर भारत में बहुजन समाज पार्टी (गेल ओमवेट 2011), एवं दक्षिण भारत में द्रविड़ मुन्नेत्र कडगम (गेल ओमवेट 2006) उस दीर्घकालीन ट्रेंड को दर्शाते हैं जिसका पाठ या शास्त्र पर आधारित व्याख्यान में कोई स्थान नहीं था। जाति के पाठ आधारित व्याख्यान से इतर क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य का व्याख्यान व्यवहारिक जमीन पर शुचिता और प्रदूषण के नियमों की आंशिक सत्त्यता को उजागर करता है। वास्तविकता में संसाधनों पर बढ़ती पहुँच और शक्ति वे दो महत्वपूर्ण संसाधन है जो एक जाति के दूसरी जातियों के प्रति व्यवहार को पूरी तरह बदल सकते हैं। स्वतंत्रता के पश्चात संवैधानिक प्रावधानों और शिक्षा ने व्यवसाय का विभेदीकरण किया है। शिक्षा और व्यवसाय के विभेदीकरण के कारण इस प्रतिस्पर्धी रुझान में तीव्रता और व्यापकता आई है। नये आर्थिक सुधारों (1991) के बाद प्रारंभ हुई निजीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया के चलते जाति की इस गतिशीलता में क्रांतिकारी बदलाव आने की संभावना है। उल्लेखनीय है कि जाति के व्यवहारिक लचीलेपन (रेजीलियन्स) को समझना अत्यंत आवश्यक है। जाति को कमजोर किए जाने के उद्देश्य से प्रेरित प्रत्येक प्रयास के साथ जाति ने स्वयं को इस प्रकार समायोजित किया है कि इसकी पहचान और सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुई है। इस अर्थ में क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता और औचित्य और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता

है क्योंकि इसके अन्तर्गत सामाजिक वास्तविकता के विरोधाभास के साथ–साथ उन सभी संभावनाओं के अध्ययन करने और समझने का विकल्प खुला है जो उन्नीसवीं शताब्दी में असम्भव लगते थे।

8.6 शब्दावली

संस्कृतीकरण : संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के द्वारा कोई निम्न हिंदू जाति या जनजाति या अन्य समूह किसी उच्च जाति की जीवन शैली अर्थात रीति–रिवाज, विचारधारा एवं जीवन पद्धति का अनुकरण करके अपनी प्रस्थिति को उच्च करने के लिए प्रयास करती है। यह प्रक्रिया कई पीढ़ियों में संपादित होती है। पहले श्रीनिवास ने इसे ब्राह्मणीकरण कहा था किंतु बाद में यह पाया गया कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में स्थानीय अनुक्रम में उच्च स्थान रखने वाली किसी गैर–ब्राह्मण जाति की जीवन शैली को भी अपनाया जाता है। संस्कृ तिकरण के प्रयास करने वाली जाति को उस जाति के शत्रुतापूर्ण व्यवहार का भी सामना करना पड़ता है, किंतु कई बार वे इसमें सफल भी होते हैं।

पश्चिमीकरण : पश्चिमीकरण का अर्थ उन समस्त सांस्कृतिक और संस्था में आने वाले परिवर्तनों से है जो भारत में पश्चिमी राष्ट्रों विशेषकर ब्रिटेन के प्रभाव के कारण अस्तित्व में आए। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के 150 वर्ष से अधिक लंबे समय के कारण तकनीकी, संस्थागत और वैचारिक स्तर पर बहुत से परिवर्तन आए। श्रीनिवास संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को ग्रामीण समुदाय में देख रहे थे, किंतु पश्चिमीकरण की प्रक्रिया परिवर्तित होते हुए नगरीय समुदाय में देखी गई। विशेषकर बड़े नगरों में रह रहे, उच्च–शिक्षिति लोगों में उच्च जाति का आधिपत्य अधिक होने के कारण यह प्रक्रिया उच्च जाति के व्यवहार से जोड़कर देखी गई। संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण दोनों ही अकादमिक आलोचना से स्वतन्त्र नहीं हैं। स्वयं श्रीनिवास ने इन दोनों प्रक्रियाओं पर लगातार कार्य करते हुए इनमें सुधार के प्रयास किया।

आधुनिकीकरण : आधुनिकीकरण भी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है। यह आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया औद्योगीकरण, नगरीकरण के साथ तार्किकता और समानता के मूल्यों के परिवर्धन से जुड़ी हुई है। इसे एथनोसेन्ट्रिक अर्थात स्वजातीय उत्कृष्टता के मूल्यों के स्थान पर सांस्कृतिक निरपेक्षवाद के गुण के कारण सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन समझने के लिए प्रयुक्त किया गया था।

प्रभु जाति : श्रीनिवास ने प्रभु जाति की अवधारणा सर्वप्रथम 1959 में अमेरिकन एंथ्रोपॉलजिस्ट के एक शोध पत्र 'डोमिनेंट कॉस्ट इन रामपुरा' में प्रस्तुत की थी। मूल रूप से इसकी तीन विशेषताएं हैं–

(i) कृषि योग्य भूमि पर स्वामित्व की अधिकता

(ii) सदस्यों की संख्या में अधिकता

(iii) स्थानीय जाति सोपानिकी में उच्च स्थान

पाठ या शास्त्र पर आधारित व्याख्यान : इसके प्रारम्भिक चरण में लुई डुमो और जी. एस. घुरिए के योगदान अत्यन्त प्रभावी रहे। डुमो ने शुचिता एवं प्रदूषण के मूल्यों में निहित सोपानिकी को प्रमुख माना। डुमो ने जाति के शुचिता और प्रदूषण सम्बन्धित विस्तृत और अनुष्ठानिक नियम ही जाति को स्तरीकरण के अन्य स्वरूपों से अलग करके सोपानिकी की जड़ो को मजबूत करते हैं। जी. एस. घुरिए द्वारा बताई गई जाति की छह विशेषताएं–

(i) समाज का खंडात्मक विभाजन

(ii) जाति सोपानिकी

(iii) धार्मिक एवं नागरिक विशेषाधिकार एवं निर्योग्यताएं

(iv) वंशानुगत व्यवसाय

(v) खान–पान एवं सामाजिक अन्तर्क्रिया पर प्रतिबन्ध

(vi) जाति अन्तःविवाह

8.7 बोधगम्य प्रश्नों के उत्तर

01. जाति के क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य और पाठ पर आधारित परिप्रेक्ष्य के बीच क्या अन्तर है?

.....

.....

.....

.....

02. जाति में आने वाले परिवर्तनों का मूल्यांकन कीजिए?

.....

.....

.....

.....

03. क्षेत्रपरक परिप्रेक्ष्य के कारण जाति व्याख्यान में कौन से नये पक्ष जुड़े?

.....

.....

.....

.....

04. सामाजिक असमानता के परम्परागत आधार और समकालीन आधार में अन्तर बताइए?

.....

.....

.....

.....

8.8 अग्रिम पठन सामग्री

- बेते अन्द्रे (2002) : हाइरेर्किकल एंड कम्पिटीटिव इनिइक्वेलिटी, सोशियोलोजिकल बुलेटिन, 51 (1) मार्च, पृष्ठ संख्या 3–27।
- बूगल सी (1968) : दि एसेंस एंड रियलिटी ऑफ द कास्ट सिस्टम, कंट्रीब्यूशन्स टू इंडियन सोशियोलॉजी 2(1), पृष्ठ संख्या 7–30।
- गुप्ता दिपांकर (2005) : कास्ट एंड पॉलिटिक्स : आइडेंटिटी ओवर सिस्टम, एनुअल रिव्यु ऑफ एंथ्रोपोलोजी, पृष्ठ संख्या 409–27।
- लीच ई. आर. (1969) : इंट्रोडक्शन, एस्पेक्ट्स ऑफ कास्ट्स इन साउथ इंडिया, सीलोन एंड नॉर्थ वेस्ट पाकिस्तान में, संपादित ई आर लीच, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैंब्रिज।
- ओमवेट गेल (2006) : दलित्स विजन्स : द एंटी–कास्ट्स मूवमेंट एंड द कॉन्सट्रक्शन ऑन एन इंडियन आइडेंटिटी, ओरिएन्ट लोंगमेन, पृष्ठ संख्या 54–55.
- ओमवेट गेल (2011) : दि राइज ऑफ द बहुजन समाजवादी पार्टी, अंडरस्टैंडिंग कॉस्ट फ्रॉम बुद्ध टू अम्बेडकर एंड बियोंड के अन्तर्गत, पृष्ठ संख्या 91–96।

- ऑरेंस्टीन हेनरी (1963) : कास्ट एंड द कांसेप्ट 'मराठा' इन महाराष्ट्र, ईस्टर्न एंथ्रोपॉलजिस्ट वॉल्यूम 15, पृष्ठ संख्या 1–9।
- रुडोल्फ लॉयड आई और सूजन होएबर रुडोल्फ (1987) : इन परस्यूट ऑफ लक्ष्मी : द पोलिटिकल इकोनॉमी ऑफ द इंडियन स्टेट, ओरिएंट लोंगमेन, नई दिल्ली।
- श्रीनिवास एम. एन. (1952) : रिलिजन एंड सोसाइटी अमंग दि कुर्गस् ऑफ साउथ इंडिया,क्लेरेंडन प्रेस, ऑक्सफोर्ड।
- श्रीनिवास एम. एन. (1972) : सोशल चेंज इन इंडिया, ओरिएन्ट लोंगमेन,नई दिल्ली।
- शाह ए एम (2007) : कॉस्ट इन द ट्वेन्टी फर्स्ट सेंचुरी : फ्रॉम सिस्टम टू एलिमेंट्स, इकोनामिक एंड पॉलीटिकल वीकली, वॉल्यूम 42, इश्यू नंबर 44, 3 नवंबर।
- थोराट सुखदेव (2009) : दलित्स इन इंडियासर्च फॉर ए कॉमन डेस्टिनी, सेज प्रकाशन, नई दिल्ली।

खण्ड २

इकाई ९ औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 जाति का औपनिवेशिक व्याख्यान

9.3 प्राच्यवादी अध्ययन और औपनिवेशिक व्याख्यान के बीच संबंध

9.4 औपनिवेशिक व्याख्यान का नृवंशविज्ञानी प्रवाह

9.5 जाति जनगणना के औपनिवेशिक प्रयास

9.6 औपनिवेशिक वर्चस्व की विचारधारा

9.7 सारांश

9.8 शब्दावली

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.10 अग्रिम पठन सामग्री

9.0 उद्देश्य

इस इकाई में जाति के औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य का वर्णन किया गया है। इस परिप्रेक्ष्य में औपनिवेशिक शासन को जाति की व्याख्या को प्रभावित करने वाले एक महत्वपूर्ण कारक के रुप में देखा जाता है। ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य और इसके प्रशासन ने भारतीय समाज, इसकी संस्कृति और विशेषकर जाति के अध्ययन व विश्लेषण के लिए व्यवस्थित प्रयास किए। अध्ययन के इन विभिन्न प्रयासों से जाति के स्वरूप पर पड़ने वाले प्रभाव को समझने के लिए यह दृष्टिकोण भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को एक पृष्ठ भूमि के रूप में देखता है। औपनिवेशिक काल में किए गए जाति के अध्ययन व विश्लेषण के इन प्रयासों का जाति से सम्बन्धित अन्य पक्षों पर प्रभाव पड़ा। इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों को विदित होगा कि

- जाति का औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य किन धारणाओं पर आधारित है।
- प्राच्यवादी विद्वानों द्वारा औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीय समाज में की गयी व्याख्याएं किस प्रकार एक नवीन औपनिवेशिक समझ के विकास की आधार शिला बनीं।
- भारतीय समाज, इसकी संस्कृति और संस्थाओं के प्रति औपनिवेशिक शासकों का क्या दृष्टिकोण था।
- उपनिवेश कालीन व्याख्याओं और समझ के कारण ज्ञानार्जन की प्रक्रिया पर क्या प्रभाव पड़े।
- जाति का औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य किस सीमा तक जाति को समझने में सहायक है।

9.1 प्रस्तावना

ज्ञान के वि–उपनिवेशीकरण अर्थात ज्ञान को डिकोलोनाइज करने की प्रक्रिया एक वैश्विक परियोजना के अंतर्गत विश्व के विभिन्न देशों में चलने वाली ऐसी विचारधारा है जो समाजशास्त्र एवं अन्य विषयों के कार्य क्षेत्र के अंतर्गत उपनिवेशवाद की समालोचना पर

आधारित है। यह समालोचना 'सामाजिक' प्रकृति की है क्योंकि उपनिवेश के दृष्टिकोण से यह प्रक्रिया उपनिवेशवाद के इतिहास को समझने के साथ–साथ इस तथ्य को भी समझने का प्रयास करती है कि ज्ञान के उत्पादन और व्याख्यान पर उपनिवेश–कालीन राज्य का क्या प्रभाव पड़ा। ज्ञान–मीमांसा का सामाजिक पक्ष समझना अति आवश्यक है क्योंकि ज्ञान को अस्तित्व में लाने वाली उत्पादन की प्रक्रिया भी ज्ञान का एक अभिन्न अंग है (रेविन कॉनेल 2018)। यद्यपि, उपनिवेशित के दृष्टिकोण से ब्रिटिश नीतियों की आलोचना ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के समय से ही चली आ रही है। जाति के अध्ययन व विश्लेषण को उपनिवेश के दृष्टिकोण से देखने का प्रयास ब्रिटिश साम्राज्य और औपनिवेशिक नीतियों की सामाजिक आलोचना से परिपूर्ण है। जाति से सम्बन्धित ज्ञान के पुनर्व्याख्यान और पुनर्उत्पादन पर इस उपनिवेशवादी प्रभुत्व के प्रभाव का व्यवस्थित अध्ययन ही जातीय परिप्रेक्ष्य का मूल आधार है।

उपनिवेशवाद का अर्थ प्रभुता और वर्चस्व की एक लंबी अवधि के एक स्थाई प्रभुत्व से है जिसमें एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर प्रभुता स्थापित करके उसे अपने अधीन कर लेता है। प्राचीन काल से ही एक समाज के द्वारा दूसरे समाज के क्षेत्र को विजित करके अपने क्षेत्र के विस्तार करने की प्रवृत्ति के साक्ष्य मिलते हैं। इस अर्थ में उपनिवेशवाद एक आधुनिक घटना नहीं है। किंतु सोलहवीं शताब्दी में तकनीकी विकास के कारण उपनिवेशवाद का एक साम्राज्यवादी स्वरूप धीरे–धीरे अस्तित्व में आना प्रारंभ हुआ। जो उन्नीसवीं शताब्दी में चरम पर सीमा पर पहुंच गया था। इस प्रक्रिया में विश्व के अनेक राष्ट्रों पर यूरोप का प्रभुत्व बढ़ता गया। इन सुदूर देशों में अपनी सेना और लोगों को बड़ी संख्या में ले जाकर राजनीतिक सत्ता स्थापित की गई।

यह समझना आवश्यक है कि उपनिवेश का प्रयोग उन स्थानों के लिए किया गया जहाँ यूरोपीय निवासियों की एक बड़ी जनसंख्या स्थाई रूप से रहती थी। इसके साथ ही वहाँ के राजनीतिक, वित्तीय और प्रशासनिक नियंत्रण भी उनके हाथों में रहते थे। कॉलोनी शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द कोलोनस से हुई है जिसका अर्थ 'बस्ती' है। उपनिवेशवाद में सामान्य रूप से विदेशी जनसंख्या विकसित क्षेत्र में एक बड़े आकार में उपनिवेश में स्थानांतरित

होती थी। यह विदेशी जनसंख्या अपने मूल देश के प्रति निष्ठावान रहते हुए उपनिवेशित देश में स्थाई रूप से बसी रहती थी। भारतीय संदर्भ में ब्रिटिश राज्य का औपनिवेशिक प्रभुत्व और शासन सोलहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर अट्ठारहवीं–उन्नीसवीं शताब्दी में अपने चरम पर पहुंचता है।

9.2 जाति का औपनिवेशिक व्याख्यान

इसी पृष्ठभूमि में जाति का औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य 'औपनिवेशिक राज्य और इसकी नीतियों' को एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कारक के रूप में देखने पर बल देता है। इस परिप्रेक्ष्य की मूल धारणा के अनुसार औपनिवेशिक शासन के दौरान जाति की पुनर्व्याख्या और पुनर्स्थापना में औपनिवेशिक सत्ता की भूमिका को समझना महत्वपूर्ण है। औपनिवेशिक राज्य की सत्ता ने ब्राह्मणवादी मूल्यों पर आधारित एक सर्व–सम्मत, एकात्मक व संगठित प्रारूप को जाति के अध्ययन के लिये आदर्श प्रारुप के रूप में पहचाना। प्राच्यवादी यूरोपीय विद्वानों द्वारा भारतीय समाज, संस्कृति व रिति–रिवाजों के अध्ययन के प्रारम्भिक प्रयास औपनिवेशिक आधुनिकता के परिमाण बने। उपनिवेशवादी विचारधारा के प्रभाव में एथनोलॉजी या लोक–रचना विज्ञान और जनगणना के प्रयासों ने एक गणनात्मक समुदाय और एक संगठित श्रेणी के रुप में जाति की पहचान को स्थापित करने में नवीन भूमिका निभायी। इसके कारण जातियों की क्षेत्रीयता और उससे जुड़े निम्न जातियों के वैचारिक श्रेष्ठता के दावे और पहचान मुख्यधारा से अलग होती गये (रहेजा 1988; खरे 1991; डर्क्स 2001; दास 2003)।

जाति के सामाजिक और आर्थिक पक्षों को स्पष्ट करने वाले अन्य परिप्रेक्ष्यों से यह दृ ष्टिकोण पूर्णतया अलग हो जाता है। यद्यपि इस दृष्टिकोण में यह नहीं कहा जा रहा है कि जाति भारत में ब्रिटिश उपनिवेश की स्थापना से पहले अस्तित्व में नहीं थी। यह दृष्टिकोण मानता है कि जाति प्राचीन काल से भारतीय समाज में व्याप्त रही है किंतु इसे समझने के औपनिवेशिक प्रयासों के कारण इसके स्वरूप और व्याख्यान के बीच एक चक्रीय संबंध देखा जा सकता है। इस चक्रीय सम्बन्ध के कारण औपनिवेशिक व्याख्यान ने जाति के स्वरूप को

प्रभावित किया है। औपनिवेशिक काल के अध्ययनों और नीतियो ंके कारण जो जाति की पुनर्व्याख्या हुयी उसने जाति को बदले हुए स्वरूप में पुनर्स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस अर्थ में यह परिप्रेक्ष्य औपनिवेशिक काल को महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कारक मानता है।

9.3 प्राच्यवादी अध्ययन और औपनिवेशिक व्याख्यान के बीच संबंध

जाति के अन्य परिप्रेक्ष्यों से कहीं अधिक जटिलता इस परिप्रेक्ष्य में देखने को मिलती है। समस्त औपनिवेशिक व्याख्यान को मुख्यतः दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं में विभक्त किया जा सकता है। पहली मुख्यधारा के अंतर्गत औपनिवेशिक राज्य और प्रशासकों ने भारतीय समाज और संस्कृति को ब्राह्मणवादी मूल्य से परिपूर्ण, परम्पराओं के अपरिवर्तित अस्तित्व के रूप में देखा। जबकि दूसरी विचारधारा, जाति को औपनिवेशिक आधुनिकता के एक उत्पाद और औपनिवेशिक सत्ता की स्थापना, वैचारिक निर्वहन एवं स्थायित्व में प्रयुक्त होने वाले माध्यम के रूप में देखती है (डर्क्स 2001)।

यूरोपीय विद्वानों और औपनिवेशिक राज्य के लिए भारतीय समाज एक नवीन जगत में प्रवेश के समान था। प्राच्यवादी विद्वानों ने भारतीय समाज, संस्कृति और रीति–रिवाज को समझने के लिए भारतीय शास्त्रों के अध्ययन को महत्वपूर्ण माना। ब्रिटिश प्राच्यवादी विलियम जोन्स (1746–1794) ने भारतीय समाज के अध्ययन में रुचि ली और मनु के धर्मशास्त्र का अध्ययन करके द लॉज ऑफ मनु (1794) प्रकाशित की। एडवर्ड मूर (1771–1848) ने 'दि हिंदू पंथियन' (1810) में अपने अध्ययन को प्रस्तुत किया । प्रारंभिक प्राच्यवादी विद्वानों ने संस्कृत भाषा में लिखे कुछ शास्त्रों का अध्ययन किया और इन्हें भारतीय समाज के देशी विधानों व प्रथाओं का आधिकारिक स्त्रोत माना। इस आधार पर भारतीय समाज में सामाजिक सम्बन्धों और दायित्वों के एकल और रूढ़िवादी स्वरूप में ब्राह्मणपूज्य व्याख्यान को ही वास्तविक मान लिया गया। लगभग 1789 से 1832 के बीच हिंदू धार्मिक परंपराओं के प्रति ब्रिटिश दृ ष्टिकोण एवं धारणा पूरी तरह से परिवर्तित हो चुका थी (पेनिंग्टन 2005)। एकल और रूढ़िवादी ब्राह्मणवादी व्याख्यान के अनुसार भारतीय सामाजिक सम्बन्धों को संहिताबद्ध करने

के प्रयास पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है। ब्राह्मण विद्वानों द्वारा संकलित शास्त्र एक ऐसे एकल, सुसंगत जातीय समाज के आदर्श का चित्रण करते हैं जिसमें पदानुक्रम ब्राह्मण के विशिष्ट प्रभुत्व के अधीन रखा गया है। इन शास्त्रों के निर्देशात्मक विवरण को भारतीय समाज की सामाजिक वास्तविकता मान लिया गया। इसके दूरगामी परिणाम पूरे औपनिवेशिक काल में देखे जा सकते हैं।

यद्यपि इन प्राच्यवादी अध्ययनों का प्रारम्भ भारतीय समाज की संस्कृति को समझने के लिए था किंतु इस प्रयास से जन्मे व्यवस्थित और वर्गीकृत व्याख्यान की भारतीय परम्परा के प्रति औपनिवेशिक आधुनिक समझ अपूर्ण और आंशिक अर्थ वाली ही थी। यह औपनिवेशिक निर्वचन और व्याख्यान भारतीय समाज की विस्तृत और विविध सांस्कृतिक सामग्रियों के वृहद भण्डार से जुड़े मात्र कुछ निर्देशात्मक शास्त्रों के अध्ययन पर आधारित था। यह एक व्यापक और विविधतापूर्ण संस्कृति के छोटे–छोटे खंडो को सम्पूर्ण समझने का प्रयास था (कॉफ 1980)।

यूरोपीय प्राच्यवादियों के द्वारा प्रारंभ किए गए जाति की इस व्याख्यान में और सामान्यीकरण के व्यवस्थित प्रयासों के द्वारा बना दृष्टिकोण भारतीय समाज की परम्पराओं एक ऐसा आधिपत्यपूर्ण पाठ बना जिसने अन्य औपनिवेशिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं को प्रभावित किया। डर्क्स के अनुसार जाति ने अपना महत्वपूर्ण औपनिवेशिक स्थान इसलिए प्राप्त कर लिया था क्योंकि ब्रिटिश राज्य, पूर्व–औपनिवेशिक राजनीतिक प्रक्रियाओं से जाति के सामाजिक स्वरूप को सफलतापूर्वक अलग कर चुका था (डर्क्स 1988)। प्रारंभिक प्राच्यवादी अध्ययन और लेखन से निकले व्याख्यान आगे चलकर औपनिवेशिक राज्य के निहित स्वार्थ की पूर्ति के माध्यम सिद्ध होने लगे।

9.4 औपनिवेशिक व्याख्यान का नृवंशविज्ञानी प्रवाह

डर्क्स के अनुसार औपनिवेशिक काल में नृवंशविज्ञानियों द्वारा किए गए अध्ययनों और उनके व्याख्यान ने ज्ञान की धारा को औपनिवेशिक प्रभुता और वर्चस्व की ओर प्रवाहित किया ।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य, विशेषकर 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद भारतीय समाज के अध्ययन का उद्देश्य शासित समाज पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए तीव्र होता गया। तत्कालीन यूरोपीय समाज में अध्ययन के नए–नए विचार और प्रविधियाँ विकसित हो रही थीं। इस क्रम में औपनिवेशिक नृवंशविज्ञानी विद्वानों ने जाति को भारतीय सामाजिक वर्गीकरण के अध्ययन और समझ के लिए केंद्र बिंदु बनाया। इन औपनिवेशिक नृवंशविज्ञानियों ने भारतीय समाज के बारे में ज्ञान का एक नया संकलन करना प्रारंभ किया । यह नृवंशविज्ञानी विचारधारा जाति, जनजाति और उनके रीति–रिवाज को प्रजाति के संदर्भ में देखने का प्रयास कर रही थी। भारत सरकार के सांख्यिकी महानिदेशक के रूप में डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर की नियुक्ति (1869) से भारतीय समाज के बारे में ज्ञान के आधिकारिक औपनिवेशिक दस्तावेजों का संकलन व्यवस्थित करने की प्रक्रिया आगे बढ़ी। यद्यपि इसका मूल भी विलियम जोन्स द्वारा वर्णित मनु के ब्राह्मणवादी प्रारूप और अंतर–विवाह के विवरण से जुड़ा रहा। इस प्रकार जाति भारतीय समाज के लोगों के आधारभूत विवरण और जानकारी का केंद्र बिंदु बनी।

एम.ए. शेरिंग का अनुभवजन्य अध्ययन 'हिंदू ट्राइब्स एंड कॉस्ट' (1872) विभिन्न भारतीय जातियों, मिश्रित जातियों और उनके भीतर उपजातियों का अध्ययन ब्राह्मणवादी प्रारूप पर ही आधारित था। एच. एच. रिजले ने भी अपने अध्ययन 'ट्राइब्स एंड कास्ट ऑफ बंगाल' (1872) में जाति को प्रजाति के आधार पर स्पष्ट करने पर बल दिया। इसके साथ ही 'पीपुल ऑफ इंडिया' (1901) में भारतीयों की उत्पत्ति और वर्गीकरण के लिए मानवशास्त्रीय माप की प्रविधि का प्रयोग करते हुए इसे जातियों के अध्ययन के लिए सटीक और तार्किक माना।

इसके विपरीत, विलियम क्रुक ने 'ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ द नॉर्थ–वेस्टर्न प्रोविंस एंड अवध' (1896) के आधार पर जाति की श्रेणियों को जैविकीय रूप से निर्धारित करने और प्रजाति के तत्वों में समाहित करने के इस व्यवस्थित प्रयास पर प्रश्न चिन्ह लगाया था। क्रुक ने जातियों को समझने के लिए व्यवसायिक मानदंड को तुलनात्मक रूप से अधिक उपयुक्त, सटीक और व्यापक पैमाना माना है। जबकि रिजले के दृष्टिकोण में, एंथ्रोपोमेट्री के

सटीक होने की धारणा भारत में जाति के बाहर विवाह करने के निषेधात्मक नियम को 'संपूर्ण और सार्वभौमिक' मानने के तर्क पर आधारित थी। इस अर्थ में मिश्रित जातियाँ और उपजातियाँ रिजले के सटीक मापदंड के दावे पर प्रश्न चिन्ह लगाती हैं। डेंजिल इब्बेटसन ने अपने अध्ययन 'पंजाब कास्ट्स' (1916) में पाया कि पंजाब क्षेत्र में ब्राह्मणों की प्रभुता व पदानुक्रम सर्वोच्च नहीं था। इब्बेटसन ने देखा कि इस क्षेत्र में राजपूत और जाट जातियाँ 'व्यवसाय' से समबन्धित हैं और उनके पास संसाधनों का स्वामित्व श्रेष्ठता के अलग अनुक्रम को दर्शाता है। वॉल्टर इलियट और डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर (एनल्स ऑफ रूरल बंगाल 1868) ने भी जाति की विशेषताओं को सभी भारतीयों के जीवन की एकमात्र मूल विशेषता के रूप में वर्णित न करके इसे कुछ हिस्सों में ही व्याप्त माना है।

9.5 जाति जनगणना के औपनिवेशिक प्रयास

जाति के औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय जन की गणना के लिए किए जाने वाले औपनिवेशिक प्रयास एक महत्वपूर्ण कारक हैं (डर्क्स 2001; पद्मनाभ 2011)। भारतीय जनसंख्या को उसके प्रमुख लक्षणों के साथ वर्गीकृत करने के लिए इस औपनिवेशिक जनगणना में जाति को एक महत्वपूर्ण और आधारभूत श्रेणी के रूप में सम्मिलित किया गया। रिजले ने 'सामाजिक अनुक्रम' (1901) के मानदंड को प्रयुक्त किया। औपनिवेशिक राज्य की नीतियों के अंतर्गत जनगणना के इन प्रयासों के कारण जातियों की पहचान स्पष्ट करने और वर्गीकृत करने हेतु एक अखिल भारतीय प्रारूप के विकास के असफल प्रयास किए गए । यद्यपि जनगणना के कार्य में संलग्न औपनिवेशिक प्रगणक और प्रशासक, जातियों की विविधता की इस एकल प्रारुप से विसंगति को देख रहे थे, फिर भी नीतिगत स्वार्थों के लिए जाति–जनगणना की यह अखिल भारतीय परियोजना 1931 तंक अनवरत चलती रही। पद्मनाभ (2011) के अनुसार भारतीय जातियों के विविधता–युक्त स्वदेशी सामाजिक पदानुक्रम की 'कास्ट' के अंतर्गत पहचान करना और उसके सटीक विवरण देने के लिए अखिल भारतीय पैमाने के एकल प्रारूप में वर्गीकृत करना त्रुटिपूर्ण और असंगत था।

जाति की पहली जनगणना सन् 1865 में उत्तर–पश्चिमी प्रांत से प्रारंभ की गयी और सन् 1931 तक जाति भारतीय जनगणना का अभिन्न अंग बन रही। स्वदेशी जातियों की विशेषताएं एवं क्षेत्रीय विविधता, वर्गीकरण के इस अखिल भारतीय प्रतिमान के एकल और समरूपी प्रारूप के अंतर्गत वर्गीकृत करने और सूचीबद्ध करने की संभावना को क्षीण कर देती है। औपनिवेशिक जनगणना के ये प्रयास विसंगतियों से युक्त थे। 'शास्त्रीय वास्तविकता' की जातीय श्रेणियों को अनुभवजन्य जनगणना–सर्वक्षणों और तार्किक रूप से सूचीबद्ध करने के असफल प्रयास एक 'पैचवर्क' बनकर रह गये। विविधतापूर्ण जातियों की सामाजिक वास्तविकता का, इस औपनिवेशिक व्याख्यान में वर्ण–प्रारूप पर आधारित शास्त्रीय वास्तविकता से मेल न होने के बाद भी औपनिवेशिक सत्ता द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर इस एकल, सर्वसम्मत, सुसंगत प्रारूप को लागू किया गया। सामाजिक पदानुक्रम के आधार पर 1901 की जनगणना के प्रयास के कारण ही विभिन्न जातियों द्वारा उच्चतर स्थिति के दावे के लिए याचिकाएं की गई। औपनिवेशिक व्याख्यान से जातियों की एक गणनात्मक समुदाय के रूप में पहचान स्थापित हुयी।

9.6 औपनिवेशिक वर्चस्व की विचारधारा

औपनिवेशिक व्याख्यान की मुख्यधारा में सामाजिक सुधार की परियोजना का प्रवाह उन दो परस्पर विरोधी खाँचों पर आधारित है जो ब्रिटिश राज्य और भारतीय समाज के बीच अन्तर स्थापित करके औपनिवेशिक राज्य के मूल्यों का आधिपत्य स्थापित करते हैं। औपनिवेशिक राज्य ने प्राच्यवादियों के व्याख्यान का प्रयोग करके भारतीय समाज को एक जड़, अपरिवर्तनीय, पदानुक्रमित और ब्राह्मणवादी मूल्यों पर आधारित व्यवस्था के पीड़ित के रुप में दिखाया। मैक्स मूलर (1823–1900) ने हिस्ट्री ऑफ एंसिएंट संस्कृत लिटरेचर (1859) में संस्कृत के अध्ययनों की आवश्यकता को अत्यधिक महत्व दिया। मूलर के लिए भारतीय समाज और संस्कृति की आत्मा वैदिक युग में थी जबकि मनु के समय में उसमें विरूपण आने लगा था। इस अर्थ में, भारतीय परम्पराओं का पुनर्अध्ययन और पुनर्निर्वचन किया गया। साथ ही भारतीय समाज का अध्ययन, भारत को समझने के उद्देश्य से शुरू होकर भारतीय

समाज पर सत्ता को बनाए रखने और वर्चस्व को संस्थापित करने के उद्देश्य में निहित होता गया। इतिहासकार जावेद मजीद (1993) दार्शनिक इतिहास की स्कॉटिश परम्परा के रूप में जे. एस. मिल (द हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया 1985) के दृष्टिकोण का विश्लेषण करते हैं। मजीद के अनुसार मिल और अन्य उदारवादी विद्वान सभ्यता के एक रेखीय विकास के पैमाने पर प्रत्येक समाज की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए प्रेरित थे। भारतीय उपनिवेश में सामाजिक सुधार की परियोजना सभ्यता के उसे ध्रुवीकरण के लिए महत्वपूर्ण थी जिसमें असभ्य से सभ्य बनाने का दायित्व औपनिवेशिक राज्य और इसकी संरक्षणवादी नीतियों द्वारा संपादित किया किया जाना था।

भारतीय समाज को असभ्यता के चरण से सभ्यता के चरण में लाने का दायित्व और शासित जन समूह को सभ्य बनाने की औपनिवेशिक नीति संरक्षण के नाम पर वास्तविकता में शोषण के लिए प्रयुक्त की गयी।

9.7 सारांश

संक्षेप में कहे तो जाति के इस औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य में औपनिवेशिक कालीन पुनर्व्याख्याओं ने भारतीय समाज के बारे में ज्ञान के पुनर्उत्पादन को प्रभावित किया। जाति के इस नवसृजित व्याख्यान में उन भारतीय सामाजिक लक्षणों को दबा दिया गया जो इसकी आत्मा में व्याप्त थे। भारतीय समाज की बाह्य आकृति को सुसंगत, एकीकृत एवं अखिल भारतीय एकल प्रारूप के रुप में विकसित करने के ये व्यवस्थित प्रयास भारतीय सामाजिक वास्तविकता का चित्रण न करके अपूर्ण खंडो को ही सपष्ट कर पाते हैं। भारत को समझने के ये औपनिवेशिक प्रयास भारतीय समाज की वास्तविकता को उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संदर्भ से काटकर देखते हैं।

औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य का मूल आधार है कि औपनिवेशिक काल के यूरोपीय प्राच्यवादी व्याख्यान, नृवंशविज्ञानी विचारधारा और औपनिवेशिक जनगणना के कारण भारतीय समाज एवं जाति को समझने के लिए किए गये प्रयासों के दूरगामी परिणाम निकले। यद्यपि यह

परिप्रेक्ष्य इस तथ्य को नहीं नकारता कि जाति प्राचीन काल से ही भारतीय समाज का एक अभिन्न अंग रही है और पदानुक्रम की धारणा भी इसके साथ संयुक्त है। औपनिवेशिक व्याख्यान से जातियों की एक गणनात्मक समुदाय के रूप में पहचान स्थापित हुयी।

9.8 शब्दावली

उपनिवेशवादः उपनिवेशवाद की प्रक्रिया में एशिया, अफ्रीका, अमेरिका और विश्व के अन्य भागों में यूरोपीय बस्तियों का फैलाव, सैन्य शक्तियों, देशी जन के निर्वासन एवं राजनीतिक वर्चस्व के द्वारा स्थापित किया गया। यूरोपीय विद्वानों के लिए यह एक नए जगत में प्रवेश करने जैसा था । द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों ने भारत के साथ–साथ विश्व के अन्य कई भागों में औपचारिक उपनिवेशीकरण को समाप्त कर दिया।

एथनोलोजी : एथनोलोजी या लोकरचना विज्ञान, ऐतिहासिक और तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर संस्कृतियों और समाजों का तुलनात्मक अध्ययन है। नृविज्ञान का लक्ष्य विभिन्न समूहों या समुदायों में सांस्कृतिक विविधता और समानताओं को समझना और समझाना है। संस्कृतियों के बारे में तथ्य इकट्ठा करने के लिए नृवंशेविज्ञानी सांस्कृतिक पैटर्न, भाषाई और पुरातात्विक साक्ष्य के ऐतिहासिक और तुलनात्मक विश्लेषण पर भरोसा करते हैं। नृवंशविज्ञान मुख्य रूप से तुलनात्मक अनुसंधान, सांस्कृतिक सिद्धांत और क्रॉस–सांस्कृतिक संचार में प्रयोग किया जाता है।

एथनोग्रेफी : एक गुणात्मक शोध पद्धति है जिसमें गहन क्षेत्रीय कार्य और किसी विशेष संस्कृति या समुदाय का अवलोकन शामिल है। नृवंश विज्ञान का उद्देश्य किसी विशिष्ट समूह या समुदाय की सांस्कृतिक प्रथाओं और विश्वासों का वर्णन और व्याख्या करना है। संस्कृति के बारे में तथ्य एकत्र करने के लिए एथ्नोग्राफर प्रतिभागी अवलोकन, साक्षात्कार और अन्य गुणात्मक तथ्य संग्रह तकनीकों पर भरोसा करते हैं।

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

01. प्राच्यवादी अध्ययन ने जाति के औपनिवेशिक व्याख्यान पर क्या प्रभाव डाला?

.....

.....

.....

.....

02. अध्ययन की यूरोपीय नृवंशविज्ञानी श्रंखला ने जाति के औपनिवेशिक व्याख्यान में क्या भूमिका निभायी?

.....

.....

.....

.....

03. औपनिवेशिक राज्य एवं प्रशासन के वैचारिक वर्चस्व का आंकलन कीजिए?

.....

.....

.....

.....

04. जाति के औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य की विशेषताओं का वर्णन कीजिए?

.....

.....

.....

.....

9.10 अग्रिम पठन सामग्री

- चटर्जी पार्थ (1992): कास्ट एंड सबाल्टर्न कॉन्शसनेस, सबाल्टर्न स्टडीज राइटिंग ऑन साउथ एशियन हिस्ट्री एंड सोसाइटी में, (संपादित) आर गुहा, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस न्यू दिल्ली।

- दास वीणा (2003): हैंडबुक ऑफ इंडियन सोशियोलॉजिकलए, संपादक, नई दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003।

- जावेद मजीद (1993): अनगवर्न्ड इमेजिनिंग्सः जेम्स मिल्स' द हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया एंड ओरिएंटलिज्म, क्लेरेंडन प्रेस, ऑक्सफोर्ड।

- खरे आर एस (1991): दि अनटचेबलस्' वर्जनः इवेलुएटिंग एन आइडियल असेटिक, गुप्ता डी, संपादित सोशल स्ट्रेटिफिकेशन में, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

- कॉफ डेविड (1980): हर्मेन्युटिक्स वर्सेस हिस्ट्री, जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज, वॉल्यूम 39, संख्या, मई।

- निकोलस बी डर्क्स (2001): कास्ट्स ऑफ माइंडः कोलोनियलिज्म एंड द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।

- पद्मनाभ समरेंद्र (2011): सेन्सस इन कोलोनियल इंडिया एंड द बर्थ ऑफ कास्ट, इकोनामिक एंड पॉलीटिकल वीकली, वॉल्यूम 46(33), 13 अगस्त, पृष्ठ सं. 51–58 ।

- पेनिंग्टन बी.के. (2005): वाज हिंदुइज्म इनवेंटेड? ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड पृष्ठ सं. 3।

- रहेजा ग्लोरिया गॉडविन (1988): इंडियाः कास्ट, किंगशिप एन्ड डोमिनेंस रिकंसीडर्ड, एन्वल रिव्यू ऑफ एंथ्रोपोलॉजी, 1988 वॉल्यूम 17, पृष्ठ सं. 497– 522।
- रेविन कॉनेल (2018): डीकोलोनाइजिंग सोशियोलॉजी, कन्टेम्परेरी सोशियोलॉजी 47, 4, अमेरिकन सोशियोलोजिकल एसोसिएशन, पृष्ठ सं. 399–407।
- स्टैनफोर्ड इनसायक्लोपीडिया ऑफ फिलोसफी पर उपनिवेशवाद की विस्तृत सामग्री
- https://planto.standord.edu/entries/colonialism

इकाई-१० परिवार एवं इसके बदलते प्रतिमान

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 परिवार का अर्थएवं परिभाषा

10.3 परिवार की विशेषताएवं महत्व

10.4 परिवार का उद्विकास

10.5 परिवार के प्रकार

10.5.1 विवाह के आधार पर परिवार के प्रकार

10.5.2 निवास स्थान के आधार पर परिवार के प्रकार

10.5.3 संख्या के आधार पर परिवार के प्रकार

10.5.4 प्रभुत्व के आधार पर परिवार के प्रकार

10.6 परिवार के कार्य

10.7 परिवार में आधुनिक परिवर्तन

10.8सारांश

10.9 बोध–प्रश्न

10.10बोध प्रश्नो के उत्तर

10.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

10.0 उद्देश्य

इस इकाई का मौलिक उद्देश्य परिवार के बदलते प्रतिमान के प्रमुख उपागमों के विषय में जानकारी प्रदान करना है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। समाज व्यवस्था बनाये रखने के लिए पारिवारिक जुड़ाव होना अति महत्वपूर्ण होता है।प्रकार्यवादियों के अनुसार परिवार अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है जो समाज की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं और जानकारी व्यवस्था को स्थायी बनाने में सहायता करते हैं।भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परिवार के बदलते प्रतिमान का वर्णन कर सकेंगे।

- भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परिवार के बदलते प्रतिमान का वर्णन कर सकेंगे।
- परिवार का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का विश्लेषण कर सकेंगे।
- परिवार के प्रकार एवं परिवार के कार्य का वर्णन कर सकेंगे।
- वर्तमान समय में परिवार के बदलते स्वरूप का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, का अध्ययन कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

इस इकाई में परिवार के बदलते प्रतिमान के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि परिवार मानव समाज की पूर्णतः मौलिक एवं सार्वभौमिक इकाई है। जिसे प्राथमिक समूह कहा जाता है। यह समस्त अन्य संरचनाओं का आधार स्तम्भ है। परिवार जितनी 'नैसर्गिक' कोई अन्य सामाजिक संस्था नहीं दिखाई देती ह। प्रायः हम यह मानने को तैयार रहते हैं कि सभी परिवार वैसे ही होंगे जैसे परिवारों में हम रहते हैं। कोई और सामाजिक संस्था इतनी व्यापक और अपरिवर्तनीय नहीं दिखाती है। समाजशास्त्र ने कई दशकों तक विभिन्न संस्कृतियों में यह दर्शाने के लिए क्षेत्रीय अनुसंधान किए कि कैसे विभिन्न समाजों में भिन्न–भिन्न स्वरूप होते हुए भी परिवार विवाह और नातेदारी संस्थाएं सभी समाजों में महत्वपूर्ण है।

समाज में सभी सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक महत्वपूर्ण और सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। समाज के सभी स्तरों में चाहे वह निम्न श्रेणी का हो या उच्च श्रेणी का परिवार संगठन आवश्यक होता है। व्यक्तित्व का विकास सामाजिक सम्बन्धों से होता है। ये रिश्ते परिवार में विकसित होते हैं। परिवार के अभाव में सभ्य मानव समाज की कल्पना करना कठिन है। परिवार मानव समाज के प्राथमिक इकाई है, जिसमें व्यक्ति की सभी जरूरतें पूरी होती हैं। इसीलिए परिवार सार्वभौमिक और प्राचीन काल से अस्तित्व में है।

10.2 परिवार का अर्थ एवं परिभाषा

परिवार सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधार स्तंभ है, जिसका व्यक्ति के जीवन में प्राथमिक महत्व है। परिवार सामाजिक संगठन की एक सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक निर्णायक इकाई है। परिवार के द्वारा ही सामाजिक संबंधों का निर्माण होता है जो समाजशास्त्र की विषयवस्तु है।परिवार को जब नियमों या कार्य पद्धतियों के सन्दर्भ में देखा जाता है तो यह एक संस्था है। परिवार को चाहे समिति के दृष्टिकोण से देखें या संस्था के, पर इस तथ्य पर दो मत नहीं हो सकते हैं कि परिवार समाज की महत्वपूर्ण मौलिक एवं सार्वभौमिक इकाई है। भारतीय समाज में संयुक्त परिवार या विस्तृत परिवार की। सामाजिक जीवन को बनाने एवं सामाजीकरण में परिवार की विशेष भूमिका है।

हिन्दी शब्द 'परिवार' आंग्ला भाषा के फैमिली शब्द का हिन्दी रूपान्तर है यह लैटिन भाषा के फैमुलस (Famulus) शब्द से बना है। 'फैमुलस' का लैटिन भाषा में अर्थ है–एक ऐसा समूह जिसमें सभी सदस्य (अर्थात् माता–पिता, सन्तान, यहाँ तक की नौकरी तथा गुलाम इत्यादि) आ जाते हैं। जैविक दृष्टि से परिवार वह समूह हैं जिसमें स्त्री एवं पुरुष को पति एवं पत्नी के रूप में यौन–सम्बन्ध की स्थापना एवं प्रजनन (सन्तान उत्पत्ति) हेतु समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से परिवार को स्त्री एवं पुरुष का एक ऐसा समूह कहा जा सकता है जो विवाह सम्बन्धों, रक्त सम्बन्धों या गोद लेने की व्यवस्था में निर्मित होती है। इसके सदस्य आयु, लिंग एवं अन्य सम्बन्धों के आधार पर अपनी भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं तथा एक 'घर' के रूप में पहचाने जाते हैं।परिवार एक ऐसी सामाजिक

संस्था है जिसकी परिभाषा ऐसे नहीं दी जा सकती जो सभी देशों, कालों, समाजों के परिवारों के लिए सही हों इसका इसका मुख्य कारण यह है कि परिवार के रूप एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में बदलते रहते हैं। कहीं पर एक विवाह प्रथा मान्य है तो कहीं पर बहु विवाह। एक विवाह और बहु विवाह का प्रभाव परिवार पड़ता है।

लूसी मेयर के अनुसार ''परिवार एक गृहस्थ समूह है जिसमें माता–पिता और संतान साथ–साथ रहते हैं। इसके मूल में दंपत्ति और उसकी संतानें रहती हैं।

मैकाइबर एव पेज 'परिवार पर्याप्त निश्चित एवं टिकाऊ यौन सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक समूह है, जो प्रजनन (बच्चों के जन्म) तथा बच्चों के पालन–पोषण की व्यवस्था करने की क्षमता रखता है।

वर्गेस एवं लॉक 'परिवार व्यक्तियों का एक समूह हैं, जो विवाह, रक्त एवं गोद लेने वाले सम्बन्धों से जुड़े होते हैं, जो पति–पत्नी, माता–पिता, पुत्र–पुत्री तथा भाई–बहन के रूप में अपनी–अपनी सामाजिक भूमिकाओं को निभाते हुए एक–दूसरे से अन्तः संचार तथा अन्तःक्रिया करते रहते हैं तथा एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं में स्पष्ट है कि परिवार जैविकीय संबंधों पर आधारित एक सामाजिक संस्था है जिसमें माता–पिता और उनकी संताने होती हैं तथा जिसका उद्देश्य अपने सदस्यों के लिए भोजन, प्रजनन, यौन संतुष्टि समाजीकरण संबंधी आवश्यकताओं की करना है।

10.3 परिवार की विशेषताएवं महत्व

परिवार की निम्नलिखित विशेषताएवं महत्व परिलक्षित होती है–

- सार्वभौमिकता (Universality) परिवार एक सार्वभौमिक संस्था हैं जो सभी समाजों एवं सभी युगों तथा ग्रामीण, नगरी हर समाज में परिवार का अस्तित्व रहा है। आज

भी समाज चाहे सभ्य हो, चाहे आदिम, परिवार किसी न किसी रूप में अवश्य ही पाया जाता है।

- विवाह सम्बन्ध (Marriage Relationship) परिवार का उद्‌भव स्त्री–पुरुष के वैवाहिक सम्बन्धों से होता है जिसमें माध्यम से ही एक पुरुष या महिला को यौन सम्बन्ध बनाने की सामाजिक स्वीकृति मिलती है, जिसके परिणामस्वरूप बच्चे पैदा होते हैं। माता–पिता और बच्चों के मिलने से परिवार बनता है।

- विभिन्न स्वरूप (Different Forms) परिवार का स्वरूप एक विवाह बहुपति विवाह, बहुपत्नी विवाह या समूह विवाह के रूप में सम्भव है। यह भिन्न समाजों में भिन्न–भिन्न होता है।

- भाषात्मक आधार (Basis Language) परिवार में सभी सदस्य भावात्मक आधार पर परस्पर एक–दूसरे के साथ जुड़े होते हैं। परिवार में प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, सहयोग, दया, सहिष्णुता, बलिदान, त्याग आदि की भावना होती हैं जो परिवार के संगठन की सुदृढ़ करती है।

- सदस्यो का उत्तरदायित्व (Responsibility of Members) परिवार में प्रत्येक व्यक्ि की प्रस्थिति तथा भूमिका निश्चित होती है। परिवार के सभी सदस्य अपनी जिम्मेदारी समझते हैं और आवश्यकता पड़ने पर बड़े से बड़ा त्याग करने से नहीं हिचकते हैं। परिवार एक ऐसा स्थान है जहाँ व्यक्ति निजी स्वार्थ को कोई महत्त्व नहीं देता।

- सीमित आकार (Limited Size) परिवार की सदस्यजा जन्म, विवाह तथा गोद लेने से ही मिलती है। इसी कारण परिवार का आकार छोटा होता है। परिवार की प्रथाओं, रूढ़ियों, मूल्यों, संस्कारों आदि का उल्लेख नहीं करता, परिवार के सदस्यों को व्यवहार, शिक्षा, धर्म, कर्तव्य–बोध आदि अनेक सामाजिक तथ्यों का ज्ञान परिवार से ही होता है।

- स्थायी व अस्थायी प्रकृति (Permanent and Temporary Nature) परिवार समिति भी है और संस्था भी सदस्यों के आधार पर परिवार एक समिति है वह अस्थायी है। नियमों तथा कार्यप्रणालियों के रूप में परिवार एक स्थायी संस्था है।

- कूले इसे एक ऐसा प्राथमिक समूह मानते हैं जो मानव स्वभाव की पोषिका है तथा यह मानव के उत्कृष्ट भावना को पैदा करता है। परिवार द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले विभिन्न कार्यों जैसे–यौन सन्तुष्टि, प्रजनन द्वारा मानव जाति की निरन्तरता बनाये रखना, सदस्यों का भरण–पोषण करना, समाजीकरण, शिक्षा प्रदान करना, नियन्त्रण बनाये रखना, संस्कृति का हस्तान्तरण करना, सदस्यों को आर्थिक व मानसिक सुरक्षा प्रदान करना समाज में व्यक्ति का पद निर्धारण करना तथा विभिन्न प्रकार के राजनैतिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक, मनोरंजनात्मक कार्यों के कारण परिवार सभी युगों में एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था रही है।

- वोगार्डस ने परिवार के महत्व को दर्शाते हुए उचित ही लिखा है कि सभ्यता के भावी अवस्था में परिवार मानवजाति को अनौपचारिक शिक्षण–शाला और मानव स्नेहों का उत्तम केन्द्र बना रहेगा।

- परिवार समाज की आधारभूत इकाई है। मानव ने अनेकानेक आविष्कार किये हैं, किन्तु वह कोई भी ऐसी व्यवस्था नहीं कर पाया है जो परिवार का स्थान ले सके। इसका मूल कारण यह है कि परिवार द्वारा किये जाने वाले प्रकार्य अन्य संघ एवं संस्थाएं करने में असमर्थ है।

10.4 परिवार का उद्विकास

परिवार का उद्विकासीय सिद्धांत सर्वप्रथम अमेरिकन मानवशास्त्री मॉर्गन ने प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा कि समाज की आरंभिक अवस्था में परिवार और विवाह नाम की कोई संस्था नहीं थी। उन्होनें यौन साम्यवाद को समाज की आरंभिक अवस्था में परिवार और

विवाह की स्थिति बताया है। मॉर्गन ने उद्विकास के आधार पर परिवार के पाँच प्रकार बताये–

1. समरक्त परिवार– परिवार के उद्विकास का प्रथम चरण माना जाता है। इस स्तर में भाई–बहन के बीच यौन–सम्बन्ध होते थे। इस व्यवस्था में विवाह के कोई सामाजिक नियम या प्रतिबन्ध नहीं थे।

2. समूह विवाह परिवार– मॉर्गन के अनुसार पूनालुअन परिवार को उद्विकास का दूसरा चरण माना जाता था। पूनालुअन परिवार का तात्पर्य ऐसे परिवार से था जिसमें सामूहिक विवाह का प्रचलन था। इस स्तर में एक परिवार के सभी भाई–बहन की सादी दूसरे परिवार के सभी बहन–भाई से होती थी।

3. सिण्डियास्मियन परिवार– यह परिवार के विकास का तीसरा स्तर माना जाता था। इस परिवार के अर्न्तगत एक पुरूष का विवाह एक स्त्री से होता था लेकिन, परिवार के सभी पुरूष विवाहित स्त्रियों के साथ समान रूप से यौन–सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे।

4. पितृसत्तात्मक परिवार– पितृसत्तात्मक परिवार में प्रमुख अधिकार पुरूषों में केन्द्रित होता है। वह एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता है।

5. एक विवाही परिवार– एक विवाही परिवार, परिवार के उद्विकास का अन्तिम और आधुनिक स्तर है। इसमें एक पुरूष किसी एक ही स्त्री से विवाह करता है और उसी से यौन–सम्बन्ध स्थापित रखता है।

10.5 परिवार के प्रकार

मानव समाज के विकास के साथ–साथ परिवार के सभी अनेक रूप अस्तित्व में आये हैं। प्रत्येक स्थान की भौगोलिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न प्रकार की परिवार व्यवस्था को जन्म दिया है।

किसी समाज में प्रचलित विवाह की रीति के आधार पर निर्मित परिवारों को हम प्रमुखतः चार भागों में विभाजित कर सकते हैं।

1. **विवाह के आधार पर**
2. **निवास स्थान के आधार पर**
3. **संख्या के आधार पर**
4. **प्रभुत्व के आधार पर**

10.5.1 विवाह के आधार पर परिवार के प्रकार (Types of Family on the Basis of Marriage)

- **एक विवाही परिवार** (Monogamous Family)एक विवाही परिवार एक पुरूष और एक स्त्री के वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा बनता है। इस प्रकार के परिवार में पुरूष या स्त्री के अविवाहित और आश्रित बच्चे भी साथ में रह सकते हैं या नहीं भी रह सकते हैं। एक विवाही परिवार में पुरूष एक समय में एक स्त्री से विवाह कर सकता है, किन्तु पत्नी की मृत्यु के बाद पुरूष व पुरूष की मृत्यु के बाद पत्नी या विवाह–विच्छेद होने पर वह पुर्नविवाह कर सकते हैं।एक विवाह परिवार एक पुरुष व एक महिला के साथ विवाह करता है इसमें दोनों पक्ष बिना तलाक या किसी एक की मृत्यु तक दूसरा विवाह नहीं कर सकते हैं और तलाक हो जाने के बाद भी स्त्री व पुरुष को पुनः विाह की स्वीकृति मिल जाती है। परिवार का यह स्वरूप आज संसार में सर्वाधिक प्रचलित है।
- **बहुविवाही परिवार (**Polygamous Family)ऐसे परिवार पितृसत्तात्मक एवं पितृवंशीय होते हैं। इनमें एक ही समय में एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह करता है। हमारे समाज में हिन्दूओं में वैधाकि रूप से ऐसे परिवार का संगठन समाज किया जा चुका है। मुसलमानों में बहुपत्नी विवाही परिवारों का वैधानिक रूप में आज भी प्रचलन है।
- ऐसे परिवारों में एक समय में एक से अधिक जीवनसाथी स्वीकृत होते हैं। इनके अनेक रूप हैं जिन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है–

- **बहुपत्नी परिवार :** बहुविवाह के अन्तर्गत बहुपत्नी विवाह प्रथा सबसे ज़्यादा प्रचलित रही है। बहुपत्नी–परिवार में एक पुरूष कई स्त्रियों से विवाह कर सभी को एक ही पारिवारिक इकाई के रूप में रखता है। ऐसे परिवार में एक पुरूष की एक से अधिक पत्नियां होती हैं। हिन्दुओं में प्रायः इस प्रकार के परिवार नही पाए जाते हैं परन्तु मुसलमानों में एक पुरूष को चार तक पत्नियाँ रखने की स्वीकृति मिली हुई है।
- **बहुपति परिवार :** जहाँ एक स्त्री एक समय में एक से अधिक पुरूषों से विवाह करती हो तो उसे बहुपति विवाह परिवार कहते हैं। ऐसे परिवार में सभी पतियों का पत्नी नर समान अधिकार होता है। इसके भी दो रूप हैं
- **भ्रातृबहुपति परिवार :** ऐसे परिवारों में एक स्त्री के कई पति होते हैं जो आपस में भाई–भाई होते हैं।
- **अभ्रातृबहुपतिक परिवार :** इस प्रकार के परिवारों में पति एक–दूसरे के भाई न होकर अन्य रिश्तेदार भी हो सकते हैं। इसका प्रचलन बहुत कम है। बहुविवाह के अन्तर्गत सम्मिलित परिवार की अवधारणा को समझना महत्त्वपूर्ण है। जिस समाज में बहुविवाह की प्रथा को माना जाता है वहाँ सम्मिलित परिवार पाया जाता है।
- **बहुपति–विवाही परिवार** (Plyandrous Family) जहाँ एक स्त्री एक समय में एक से अधिकपुरुषों से विवाह करती हो तो उसे बहुपति विवाही परिवार कहते हैं। जिसके दो रूप हैं–एक वह जिसमें सभी भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह करते हैं, इसे भ्रातृ बहुपत्निक परिवार (Adelphic Polyandrous Family) कहते हैं। दूसरा अभ्रातृ बहुपतिक परिवार (Non-Adelphic Polyandrous Family) यह वह परिवार है जिसमें पति एक–दूसरे के भाई न होकर अन्य रिश्तेदार भी हो सकते हैं। इस प्रकार के परिवार कुछ भारतीय जनजातियों में टोडा, जौनसार, खस आदि में पाये जाते हैं।

10.5.2 निवास स्थान के आधार पर परिवार के प्रकार (Types of Family on the Basis of Residences)

- **पितृ स्थानीय परिवार** (Patrilocal Family) सामान्यतः विवाह के पश्चात् पत्नी, पति के यहाँ या पति के परिवार में निवास करती है। अनेक विद्वानों के विचारानुसार जब पत्नी विवाह के बाद अपने पति के घर पर रहती है, तो यह पितृस्थानीय परिवार कहलाता है। जॉनसन के मतानुसार पितृस्थानीय का सीधा अर्थ यह होता है कि, विवाह के बाद पत्नी अपने पति के पुराने घर के आस–पास या उसके समुदाय में एक नयी सदस्या के रूप में रहती है। इसके लिए पत्नी का पति के माता–पिता के साथ रहना जरूरी नहीं है। पितृस्थानीय परिवार पितृ–सत्तात्मक भी होता है। क्योंकि, इसमें नये परिवार के निवास की परम्परा का पुरूष की ओर से निर्धारण होता है।ऐसे परिवार हिन्दुओं में अधिकतर पाये जाते हैं।
- **मातृस्थानीय परिवार** (Matrilocal Family)में विवाह के पश्चात् पति स्थायी रूप से या आवश्यकता पड़ने पर पत्नी के साथ या पत्नी के परिवार के साथ रहता हो ऐसी पारिवारिक व्यवस्था जिसमें विवाह के बाद नवदम्पत्ति पत्नी के माता–पिता के निवास–स्थान पर रहते हैं,मातृस्थानीय परिवार कहलाता है। मातृस्थानीय परिवार स्वाभाविक रूप से मातृसत्तात्मक होता है। ऐसे परिवार में बच्चे भी अपने पिता के परिवार में न रहकर माता के परिवार में ही रहते हैं।ये परिवार जनजातियों में खस, गारो, नायरो में प्रायः पाये जाते हैं।
- **नव स्थानीय परिवार** (Neo-Hocal Family) इस प्रकार के परिवार में विवाह के पश्चात्य नव दम्पत्ति अपने–अपने परिवारों से पृथक अपना एक नया परिवार बसा लेता है।
- यह पारिवारिक व्यवस्था आधुनिक समाज की देन है। इसमें नव–दम्पत्ति दोनों ही एक दूसरे के पिता के घर में जाकर निवास नहीं करते और अपना नया घर बसा कर रहते हैं तारे ऐसे परिवार को नवस्थानीय परिवार कहते हैं। वर्तमान में बदली हुई परिस्थितियों में ऐसे परिवार बनने लगे हैं।

10.5.3 संख्या के आधार पर परिवार के प्रकार (Types of Family on the Basis of Number)

- **एकाकी परिवार (Nuclear Family)** इस प्रकार के परिवारों के सदस्यों की संख्या कम होती है। परिवार में सदस्यों में पति–पत्नी तथा उनकी अविवाहित सन्तानें ही होती हैं। इस प्रकार के परिवारों में अन्य रिश्तेदारों को सम्मिलित नहीं किया जाता इसमें बच्चे भी अविवाहित रहने तक ही रहते हैं। विवाह के बाद वे अपना स्वयं का नाभिक परिवार बना लेते हैं।
- **संयुक्त परिवार (Joint Family)** एक संयुक्त परिवार में तीन या तीन से अधिक पीढ़ियों के सदस्य साथ–साथ एक ही घर में निवास करते हैं, उनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है, वे एक ही रसोई में बना भोजन करते हैं। एक ही छत के नीचे रहते हैं स्तमान्य पूजा में भाग लेते हैं और परस्पर किसी–न–किसी नातेदारी व्यवस्था से सम्बन्धित होते हैं।

10.5.4 प्रभुत्व के आधार पर परिवार के प्रकार

- **पितृसत्तात्मक परिवार –** जिन परिवारों में सत्ता, अधिकार एवं नियंत्रण पिता और पुरूषों के हाथ में होता है वही महत्वपूर्ण निर्णय उसी के द्वारा लिए जाते हैं, वह पितृसत्तात्मक परिवार होते हैं। विश्व के अधिकतर समाजों में पितृसत्तात्मक परिवार ही सबसे अधिक प्रचलित हैं। ऐसे परिवारों में पुरूष की स्थिति माता से उच्च होती है। वही परिवार का कर्ता–धर्ता होता है और सब सदस्यों पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है।
- **मातृसत्तात्मक परिवार –** मातृसत्तात्मक परिवार में माता ही परिवार का केन्द्र होती है। ऐसे परिवार में स्त्री को ही मूल पर्वज माना जाता है। जब सत्ता तथा अधिकार स्त्री के हाथ में होते हैं तथा पारिवारिक नियंत्रण बनाए रखने का कार्य भी उसी के द्वारा होता है, यह मातृसत्तात्मक परिवार होता है। कभी–कभी कोई पुरूष भी उसकी ओर से यह कार्य कर सकता है। ऐसे परिवार में स्त्री की स्थिति पुरूष से उच्च

होती है और वही परिवार का संचालन करती है। ऐसे परिवार में पुत्र को सम्पत्ति का अधिकार नहीं होता बल्कि माता का भाई अथवा बहन का लड़का सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। वर्तमान में नायर, खासी आदि लोगों में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

10.6 परिवार के कार्य

परिवार का समाज में अत्यधिक महत्वपूर्ण सथान है। इनका मुख्य कारण इसके द्वारा विविध प्रकार के कार्यों का निष्पादन है। परिवार के महत्व का मूल्यांकन करने के लिए यह ज्ञात करना आवश्यक है कि उसके क्या कार्य हैं तथा किस सीमा तक उन्हें पूर्ण किया जाता है।

- यौन इच्छाओं की पूर्ति के कार्य में मौलिक कार्य संसार के समस्त देशों के परिवार में पाए जाते हैं। इन्हें हर परिवार के प्राणिशास्त्रीय कार्य भी कहते हैं। परिवार विवाह की संस्था के माध्यम से स्त्री व पुरुष को पत्नी व पति के रूप में यौन सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार यह उनकी प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता की पूर्ति करने में सहायता देता है। यदि कोई व्यक्ति विवाह न कर यौन सम्बन्ध स्थापित करता है तो ऐसा करना उचित नहीं समझा जाता है।
- सन्तानोत्पत्तिसमाज की निरन्तरता के लिए यह आवश्यक है कि समाज में नए सदस्यों का जन्म हों। इस महत्वपूर्ण कार्य को परिवार सन्तानोत्पत्ति द्वारा करता है।
- सुरक्षामनुष्य समस्त जीवधारियों में एक ऐसा प्राणी है जिसे जन्म से लेकर काफी वर्षों तक दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है। यदि उसे यह सहायता न मिले तो वह समाप्त हो जायेगा। सुरक्षा की प्रकृति मातृ प्राणिशास्त्रीय ही नहीं, अपितु मानसिक भी होती है।
- परिवार अपने सदस्यों की प्रस्थिति (स्थिति) तथा भूमिकाएँ (कार्य) स्पष्ट करता है। सामाजीकरण में परिवार का योगदान महत्वपूर्ण है। परिवार में मानव का जन्म होता है और पूरा जीवन इसी में व्यतीत होता है। इसे बच्चे की प्रथम पाठशाला कहा

जाता है। यह पर जो पाठ उसे पढ़ाया जाता है। वह जीवन भर अमिट रहता है। यह अनौपचारिक शिक्षा का प्रमुख माध्यम है।

- परिवार अपने सदस्यों को शिशुकाल से ही सामाजिक मान्यताओं के अनुकूल व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है और समाज विरोधी कार्यों से दूर रहें तथा समाज की प्रगति में योगदान देता है।
- परिवार में श्रम–विभाजन पाया जाता है। जिस प्रकार प्रत्येक परिवार में बच्चे, युवक व वृद्ध के कार्यों में अन्तर मिलता है। ठीक उसी प्रकार स्त्री और पुरुष के कार्यों में भिन्नता पाई जाती है।
- प्रत्येक परिवार का अपनी सम्पत्ति पर नियन्त्रण होता है। सम्पत्ति चाहे चल हो या अचल, उसका सही ढंग से बँटवारा परिवार ही करता है। परिवार ही यह निश्चित करता है कि कौन सम्पत्ति का स्वामी होगा।
- परिवार बच्चों की ठीक प्रकार से देख–रेख करके उनमें अहम् का विकास करता है। अहम उनके व्यक्तित्व के निर्माण में सहायता प्रदान करता है। बच्चों का व्यक्तित्व परिवार पर निर्भर करता है।
- परिवार अपने सदस्यों को धार्मिक विश्वासों मूल्यों व दृष्टिकोणों से परिचित कराता है। माता–पिता के धार्मिक विचारों एवं दृष्टिकोणों का भी बच्चों के जीवन पर काफी गहरा प्रभाव पड़ता है।
- प्रत्येक समाज की अपनी एक संस्कृति होती है। परिवार संस्कृति के हस्तान्तरण का भी प्रमुख माध्यम है। परिवार समाज में रीति–रिवाजों, नियमों, परम्पराओं व जनरीतियों आदि को सुरक्षित रखता है।

10.7 परिवार में आधुनिक परिवर्तन (Recent Changes in Family)

संयुक्त परिवार के फलस्वरूप परिवार के नये प्रतिमान उभरकर सामने आ रहे हैं जिसमें परिवार के आकार, प्रकार, सदस्यों के सम्बन्धों, प्रस्थिति और भूमिकाओं, अधिकारों एवं

कर्तव्यों तथा परिवार के ढांचे को निर्मित करने वाले नियमों में वर्तमान समय में काफी परिवर्तन आये हैं। अर्थात् सदस्य संख्या घटती जा रही है। अब सीमित परिवार की ओर लोगों का झुकाव बढ़ता जा रहा है। परिवार के सदस्य परिवार नियोजन से सम्बन्धित विभिन्न विधियों का प्रयोग करने से सदस्य संख्या घटती जा रही है। अब परिवार में 20 या 25 सदस्य नहीं दिखाई पड़ते, बल्कि अब तो पति–पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे ही मिलकर एक नाभिक परिवार बनने लगे हैं।

- वर्तमान समय में पति–पत्नी के सम्बन्धों में कुछ इस प्रकार के परिवर्तन होते नजर आ रहे हैं। एक समय ऐसा था कि पत्नी के लिए पति ही परमेश्वर था देवता हुआ करता था चाहे पति क्रूर या अत्याचारी क्यों न हों पत्नी को उसे परमेश्वर मानकर उसकी उचित अनुचित सभी प्रकार की आशाओं का पालन करना पड़ता था।
- वर्तमान समय में परिवार में पिता के अधिकारों में कमी हो रही है तथा परिवार के अन्य सदस्यों का महत्व बढ़ रहा है। अब पिता परिवार में निरंकुश शासक के रूप में नहीं रहा है। अब परिवार के महत्त्वपूर्ण निर्णय में पिता के साथ–साथ पत्नी एवं बच्चों के निर्णय को महत्वपूर्ण माना जा रहा है। अर्थात् परिवार में महिलाओं एवं बच्चों का महत्व बढ़ रहा है।
- आज विवाह और यौन सम्बन्धों में परिवर्तन होते हुये दिखाई पड़ रहे हैं। अब बाल–विवाहों की संख्या घटती जा रही है और विलम्ब–विवाहों की संख्या बढ़ती जा रही है। जीवन साथी के चुनाव में लड़के–लड़कियाँ पहले की तुलना में काफी स्वतन्त्र हैं। आजकल प्रेम विवाह, कोर्ट मैरिज तथा अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या बढ़ती जा रही है और परिवार में विधवाओं के प्रति सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण पाया जाता है।
- वर्तमान समय में परिवार की सम्पत्ति में स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार बढ़े हैं। अब वे परिवार पर भार या पुरुषों की कृपा पर आश्रित नहीं है। इसमें परिवार में स्त्रियों का महत्व बढ़ रहा, किन्तु पारिवारिक क्षेत्र में कहीं–कहीं भूमिका संघर्ष (Role Conflict) की स्थिति पायी जाती है।वर्तमान समय में नाते–रिश्तेदारों का महत्व कम होता जा

रहा है अब लोग अपने रिश्तेदारों से दूरी भागना चाहते हैं। आज नाते–रिश्तेदारी के साथ–साथ सम्बन्धों में घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है।

- आज के आधुनिक परिवारों में व्यक्तिवादिता बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही है। व्यक्ति आज अपने परिवार, माता–पिता, भाई–बहनों या अन्य निकट के रिश्तेदारों की चिन्ता नहीं करते हुये अपने ही स्वार्थों की पूर्ति में लगा रहता है। इससे पारिवारिक संगठन पर कुप्रभाव पड़ता है। अब परिवार के सदस्यों में उतना सहयोग व त्याग की भावना नहीं पायी जाती जितनी कुछ समय पूर्व तक पायी जाती थी।

10.8 सारांश

परिवार की उत्पत्ति समझाते हुए परिवार की उसकी परिभाषा और विशेषताओको समझाते हुए परिवार के प्रकार्य बताए हैं। परिवार के प्रकारों को निवास, प्रभुत्व, विवाह और आकार के आधार पर जिन उपप्रकारों में बाँटा गया है, उसके द्वारा परिवार का महत्त्व समझा जा सकता है और वर्तमान समय में इसके बदले हुए स्वरूप को आज परिवार के अनेक कार्य अन्य समितियों द्वारा संपादित किए जा रहे हैं। फिर भी यह निश्चितआधार है कि परिवार व्यक्ति एवं समाज के निर्माण में अपनी भूमिका निभाता है। कार्यों एवं भूमिकाओं के स्थानांतरण से परिवार के अस्तित्व पर कोई संकट नही है। यह एक सार्वभौमिक संस्था है।

10.9 बोध–प्रश्न

प्रश्न 1 परिवार के उदविकास सिद्धांत को सर्वप्रथम किसने दिया?

1. मार्गन
2. मर्टन
3. दोनों
4. कोई नही

प्रश्न 2 परिवार के कितने प्रकार बताये गये है।?

1. एक
2. दो
3. तीन
4. चार

प्रश्न 3 प्रभुत्व के आधार पर परिवार के कितने प्रकार है।?

1. एक
2. दो
3. तीन
4. चार

10.10 बोध प्रश्नो के उत्तर

(1) विधार्थी को इस प्रश्न का उत्तर परिवार की विशेषता एंव महत्व के अर्न्तगत दिये गये विवरण मे से लिखना है।

(2) मार्गन

(3) चार

(4) दो

10.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

- सिंह जे. पी., 2010. समाजशास्त्रः अवधारणाएँ एवं सिद्धांत. पी.एच.आई लर्निंग प्राईवेट लि. नई दिल्ली।
- दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाजः संरचना और परिवर्तन. नेशनल पब्लिशिंगहाउस, दिल्ली।
- जैन, शोभिता , 1996, भारत में परिवार, विवाह, नातेदारी, रावत, जयपुर।

इकाई-11 विवाह एंव इसके बदलते प्रतिमान

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 विवाह का अर्थ एवं परिभाषा

11.3 विवाह की उत्पत्ति

11.4 विवाह की प्रमुख विशेषताएँ

11.5 विवाह के उद्देश्य

11.6 पति और पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के दो मुख्य प्रकार

11.7 हिन्दू विवाह के प्रमुख स्वरूप

11.8 हिन्दू विवाह के नियम

11.9 मुस्लिमों में विवाह

11.10 मुस्लिम विवाह के प्रकार

11.11 ईसाई विवाह

11.11.1 ईसाई विवाह के मुख्य दो प्रकार

11.12 ईसाई विवाह से सम्बन्धित विधान

11.13 हिन्दू विवाह में आधुनिक परिवर्तन

11.14 सारांश

11.15 बोध प्रश्न

11.16 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.17 संदर्भ ग्रन्थ सूची

11.0 उद्देश्य

स्त्री और पुरुष के यौन संबंधों को नियमित करना तथा संतानोत्पत्ति के सामाजिक कार्यों में योगदान करना विवाह का प्रमुख उद्देश्य होता है। धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि माता–पिता या अभिभावक का कर्तव्य होता है कि वह बच्चों का विवाह उचित समय पर करें प्रत्येक स्त्री पुरुष के लिए विवाह करना अनिवार्य है। क्योंकि इसके बिना धार्मिक तथा सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती है।

- विवाह के अर्थ एवं परिभाषा का वर्णन करना है।
- विवाह के उद्देश्य तथा स्वरूप की जानकारी करना है।
- विवाह के प्रकार एवं विशेषता की व्याख्या करना है।
- विवाह एक धार्मिक संस्कार है का वर्णन करना है।
- विवाह में हुए आधुनिक परिवर्तन की व्याख्या करना है।

11.1 प्रस्तावना

विवाह एक सामाजिक संस्था है जो प्रत्येक विश्व में पायी जाती है। विश्व के प्रत्येक समाज चाहे वह आदिम समाज हो अथवा आधुनिक, ग्रामीण या नगरीय में, विवाह किसी न किसी रूप में पाया जाता है। परिवार बसाने के लिए दो या अधिक रूत्री पुरूष में आवश्यक सम्बन्ध स्थापित करते हैं और उसे स्थिर रखने की कोई न कोई संस्थात्मक व्यवस्था या तरीका प्रत्येक समाज में पाया जाता है जिसे विवाह कहते है। विवाह एक सामाजिक सांस्कृतिक संस्था है यह वह आधार स्तंभ है जिसके द्वारा मानव समाज का अस्तित्व बना हुआ है। समाज की निरन्तरता का आधार संतान है तथा संतान की उत्पत्ति जन्म पर आधारित होती है। जन्म के लिए स्त्रियों और पुरुषों का लैंगिक (यौन) संबंध आवश्यक है। समाज द्वारा लैंगिक संबंधों को कानूनी एवं प्रथाओं द्वारा नियमित करने के उद्देश्य से ही विवाह नामक संस्था का प्रादुर्भाव हुआ है। विवाह दो विषम लिंगियों को यौन संबंध स्थापित करने की सामाजिक या कानूनी स्वीकृति प्रदान करता है। विवाह ही परिवार की आधारशिला है

और परिवार में ही बच्चों का सामाजिकरण एवं पालन पोषण होता है। समाज की निरंतरता विवाह एवं परिवार से ही संभव है। विवाह आर्थिक हितों की रक्षा एवं भरण पोषण के लिए भी आवश्यक है। विवाह संस्था व्यक्ति को शारीरिक सामाजिक एवं मानसिक सुरक्षा प्रदान करता है।

11.2 विवाह का अर्थ एवं परिभाषा

विवाह का शाब्दिक अर्थ है, 'उद्वह' अर्थात् 'वधू को वर के घर ले जाना' विवाह को परिभाषित करते हुए लूसी मेयर लिखते हैं, विवाह की परिभाषा यह है कि वह स्त्री–पुरुष का ऐसा योग है, जिससे स्त्री से जन्मा बच्चा माता–पिता की वैध् सन्तान माना जाय। इस परिभाषा में विवाह को स्त्री व पुरुष के ऐसे सम्बन्धों के रूप में स्वीकार किया गया है जो सन्तानों को जन्म देते हैं, उन्हें वैध घोषित करते हैं। तथा इसके फलस्वरूप माता–पिता एवं बच्चों को समाज में कुछ अधिकार एवं प्रस्थितियाँ प्राप्त होती हैं। पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की सामाजिक, धार्मिक अथवा कानूनी स्वीकृति है। स्त्री पुरुषों एवं बच्चों को विभिन्न सामाजिक व आर्थिक क्रियाओं में सहगामी बनाना, सन्तानोत्पत्ति करना तथा उनका लालन–पालन एवं समाजीकरण करना विवाह के प्रमुख कार्य हैं।

बोगार्डस के अनुसार – विवाह स्त्री और पुरूष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की एक संस्था है।

हेरी एम0 जानसन के अनुसार – यह एक स्थिर सम्बन्ध है जिसकी अनुमति, समुदाय के बीच अपनी स्थिति को खोये बिना, पुरूष तथा स्त्री को समाज देता है। इस तरह के स्थिर सम्बन्ध की दो और शर्ते हैं यौन–संतुष्टि और बच्चों का प्रजनन।

वेस्टरमार्क ने लिखा है विवाह एक या अधिक पुरूषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला संबंध है जिसे प्रथा या कानून द्वारा स्वीकृति प्राप्त होती है तथा जिसमें इस संगठन में आने वाले दोनों पक्षों एवं उनमें उत्पन्न बच्चों के अधिकार और कर्तव्यों का समावेश होता है।

बोध प्रश्न:1

प्रश्न 1 विवाह के अर्थ एव परिभाष का वर्णन कीजिये ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.3 विवाह की उत्पत्ति

विवाह की उत्पत्ति कैसे हुई यह कहना अत्यन्त कठिन है लेकिन हरबर्ट स्पेन्सर के उद्विकास सिद्धान्त के प्रभाव से मार्गन ने विवाह की उत्पत्ति को बताने का प्रयास किया और उसने विकास के पांच स्तर बताये जिसमें

- अवस्था रक्त संबंधी परिवार की है जिसमें रक्त का कोई भी संकोच किये बिना रक्त संबंधियों का विवाह होता था।
- अवस्था समूह विवाह की है जिसमें एक परिवार के भाईयों का विवाह दूसरे परिवार की सब बहिनों के साथ होता था।
- अवस्था (सिंडेस्मियन) परिवार की है जिसमें एक पुरुष का विवाह एक स्त्री से होता था।

- पितृ सत्तात्मक परिवार की है जिसमें पुरुष का आधिपत्य था। एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करता था।
- अंतिम अवस्था एक विवाह परिवार की है जिसमें एक समय में एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है।

11.4 विवाह की प्रमुख विशेषताएँ

- विवाह एक मौलिक और सार्वभौमिक सामाजिक संस्था है जो प्रत्येक देश, काल, समाज और संस्कृति में पायी जाती है।
- विवाह दो विषमलिंगियों का संबंध है अर्थात् विवाह के लिए पुरूष व स्त्री का होना आवश्यक है। ये हो सकता है कि कहीं एक पुरूष का एक या कई स्त्रियों से अथवा एक स्त्री का एक या अधिक पुरूषों के साथ विवाह हो।
- विवाह को मान्यता उसी समय प्राप्त होती है जब उसे समाज की स्वीकृति मिलती है। यह स्वीकृति प्रथा कानून के द्वारा या धार्मिक संस्कार के रूप में हो सकती है।
- यह संस्था व्यक्ति के विकास की जैविक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।
- बेस्टरमार्क ने विवाह को एक सामाजिक संस्था के अतिरिक्त एक आर्थिक संस्था भी माना है। इसका कारण यह है कि विवाह संबंध के आधार पर पति–पत्नी के सांपत्तिक अधिकार भी निश्चित होते हैं।
- विवाह संस्था के आधार पर लैंगिक या यौन संबंधों को मान्यता प्राप्त होती है।
- विवाह संस्था की एक विशेषता यह है कि यह यौन इच्छाओं की पूर्ति के साथ–साथ संतानोत्पत्ति एवं समाज के निरंतरता को बनाए रखने की आवश्यकता की पूर्ति भी करती है।

- विवाह संस्था व्यक्ति की सामाजिक स्थिति के निर्धारण में योग देती है।
- विवाह का संबंध स्थायी माना जाता है तथा परिवार की उत्पत्ति की मौलिक इकाई माना जाता है।
- विवाह से संबंधित पद्धतियाँ विभिन्न समाजों में भिन्न–भिन्न होती हैं। प्रत्येक समाज की विवाह पद्धति उस समाज की प्रथाओं, मान्यताओं और संस्कृति पर निर्भर करती है और ये अलग अलग समाजों में भिन्न–भिन्न होती है।
- विवाह सम्बन्ध एक स्थायी सम्बन्ध है। विवाह के आधर पर पति–पत्नी के बीच स्थायी सम्बन्ध् की स्थापना होती है। यौन इच्छाओं की पूर्ति, सन्तानोत्पत्ति, बालकों का पालन–पोषण तथा उनके समाजीकरण एवं व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से विवाह सम्बन्ध् का स्थायी होना आवश्यक है। बिना स्थायी सम्बन्ध के पारिवारिक जीवन की दृढ़ता खतरे में पड़ जाती है।

11.5 विवाह के उद्देश्य

जब हम विवाह के उद्देश्यों पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि विवाह दो विषमलिंगियों को यौन सम्बन्ध् स्थापित करने की सामाजिक या कानूनी स्वीकृति प्रदान करता है। विवाह ही परिवार की आधरशिला है और परिवार में ही बच्चों का समाजीकरण एवं पालन–पोषण होता है। समाज की निरन्तरता विवाह एवं परिवार से ही सम्भव है। यह नातेदारी का भी आधार है। विवाह के कारण कई नातेदारी सम्बन्ध् पनपते हैं। विवाह आर्थिक हितों की रक्षा एवं भरण–पोषण के लिए भी आवश्यक है। विवाह संस्था व्यक्ति को शारीरिक, सामाजिक एवं मानसिक सुरक्षा प्रदान करती है।

- यौन इच्छाओं की पूर्ति एवं समाज में यौन क्रियाओं का नियमन करना।
- परिवार का निर्माण करना एवं नातेदारी का विस्तार करना।
- वैध सन्तानोत्पत्ति करना व समाज की निरन्तरता को बनाये रखना।

- सन्तानों का लालन–पालन एवं समाजीकरण करना।
- स्त्री –पुरुषों में आर्थिक सहयोग उत्पन्न करना।
- मानसिक सन्तोष प्रदान करना।
- माता–पिता एवं बच्चों में नवीन अधिकारों एवं दायित्वों को जन्म देना।
- संस्कृति का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण करना।
- धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति करना।
- सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना।स्पष्ट है कि विवाह केवल वैयक्तिक संतुष्टि का साधन मात्रा ही नहीं है ? वरन् सामजिक क्रिया–विधि भी है जिससे समाज की संरचना को सुदृढ़ता प्राप्त होती है।

11.6 पति और पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के दो मुख्य प्रकार

1 एक विवाह

2. बहु विवाह

बहुविवाह के तीन प्रकार हैं

(i) बहुपत्नी विवाह

(ii) बहुपति विवाह

(iii) समूह

बहुपति विवाह भी दो प्रकार का होता हैं

(i) भ्रातृ बहुपति विवाह और

(ii) अभ्रातृ बहुपति विवाह

1. एक विवाह : इसका अभिप्राय यह है कि एक पुरुष या एक स्त्री का एक समय में एक ही स्त्री या एक ही पुरुष से विवाह एक विवाह (Monogamy) की यह प्रथा यूरोपीय और अमेरीकन संस्कृतियों में अधिकांश रूप से पायी जाती है। मलाद्वीप में भी पायी जाती है और भारत में हिन्दुओं में भी पायी जाती है।

2. बहुविवाह : एक ही समय में जब एक पुरुष के एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं या एक स्त्री के एक से अधिक पति होते हैं तो ऐसे विवाह को बहु विवाह (Polygamy) कहते हैं। बहु विवाह के निम्नलिखित प्रमुख स्वरूप है –

(i) बहुपत्नी विवाह : एक पुरुष के एक ही समय में एक से अधिक पत्नियाँ होना बहुपत्नी विवाह कहलाता है। उदाहरण के लिये नागा, गोंड, बैगा, टोडा, लुशाई आदि।

(ii) बहुपति विवाह : एक स्त्री के एक ही समय में एक से अधिक पति होना बहुपति विवाह (Polyandry) कहलाता है। उदाहरण के लिये खस, कोटा,लछाखी बोटा, कश्मीर से लेकर आसाम तक के क्षेत्र में रहने वाले इंडो आर्यन और मंगोलॉयड बहुपति विवाह का उदाहरण है।

(iii) समूह विवाह : यह विवाह का वह स्वरूप है जिसमें पुरुषों का एक समूह स्त्रियों के समूह से विवाह करता है और प्रत्येक पुरुष उस समूह की प्रत्येक स्त्री के साथ संबंध रख सकता है, ऐतिहासिक प्रमाणों से समूह विवाह की पुष्टि नहीं होती है। कुछ आदिम जन जातियों में नातेदारी शब्दावली के आधार पर समूह विवाह होने की कल्पना की गई है।

भारत में बहुपति विवाह दो प्रकार का है –

(i) भ्रातृ बहुपति विवाह : खस और टोडा जनजाति की तरह जब कई भाई मिलकर एक स्त्री के पति होते हैं तो इस प्रकार के विवाह को भ्रातृ बहुपति विवाह कहते हैं।

(ii) अभ्रातृ बहुपति विवाह : ऐसे विवाह में पतियों के बीच निकट संबंध नहीं होता है और पत्नी थोड़े–थोड़े समय के लिए सभी पतियों के यहाँ जाकर रहती है, इस विवाह का प्रचलन भी टोडाओं में पाया जाता है।

11.7 हिन्दू विवाह के प्रमुख स्वरूप

विवाह के स्वरूप से हमारा तात्पर्य विवाह बंधन में बधने ने की विभिन्न विधियों से है। मनु ने विवाह के आठ स्वरूपो का उल्लेख किया है, ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, ये चार विवाह उच्च कोटि के माने गए जबकि आसुर, गांधर्व, राक्षस, तथा पैशाच ये चार विवाह निम्न कोटी के माने जाते है। प्रथम चार प्रकार के विवाहों से उत्पन्न यशस्वी, शीलवान, सम्पत्तिवान और अध्ययनशील होती है जबकि शेष चार प्रकार के विवाहों से उत्पन्न सन्तान दुराचारी, धर्म बिरोधी, एवं मिथ्यावादी,राक्षस होते है।

1.ब्राह्म विवाह (Brahma Marriage) यह विवाह सभी प्रकार के विवाह में श्रेष्ठ माना गया है। मनु ने ब्राह्म विवाह को परिभाषित करते हुए लिखा है, वेदों के ज्ञाता शीलवान वर को स्वयं बुलाकर, वस्त्र एवं आभूषण आदि से सुसज्जित कर पूजा एवं धार्मिक विधि से कन्या दान कराना ही ब्राह्म विवाह है। गौतम ने धर्मसूत्रा में ब्राह्म विवाह का वर्णन करते हुए लिखा है, वेदों का विद्वान अच्छे आचरण वाला, बन्धु–बान्धवों से सम्पन्न, शीलवान वर को वस्त्र के जोड़े एवं अलंकारों से सुसज्जित कन्या दान देना की ब्राह्म विवाह है । याज्ञवल्क्य लिखते हैं, ब्राह्म विवाह उसे कहते हैं जिसमें वर को बुलाकर शक्ति के अनुसार अलंकरों से अलंकृत कर कन्यादान दिया जाता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है।

2. दैव विवाह(Daiva Marriage) गौतम एवं याज्ञवल्क्य ने दैव विवाह के लक्षण का उल्लेख इस प्रकार किया है वेदों में दक्षिणा देने के समय पर यज्ञ कराने वाले पुरोहित को अलंकारों से सुसज्जित कन्या दान ही 'दैव' विवाह है। मनु लिखते हैं, सद्कर्म में लगे पुरोहित को जब वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित कन्या दी जाती है तो इसे दैव विवाह

कहते हैं। प्राचीन समय में यज्ञ और धार्मिक अनुष्ठानों का अध्कि महत्त्व था। जो ऋषि अथवा पुरोहित इन पवित्र धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराता यजमान उससे अपनी कन्या का विवाह कर देता था। मनु कहते हैं कि इस प्रकार के विवाह से सम्पन्न सन्तान सात पीढ़ी ऊपर की एवं सात पीढ़ी नीचे के व्यक्तियों का उद्धार करा देती है। कुछ स्मृतिकारों ने इस प्रकार के विवाह की आलोचना की है क्योंकि कई बार वर एवं वधू की आयु में बहुत अन्तर होता था। वर्तमान समय में इस प्रकार के विवाह नहीं पाये जाते। अल्टेकर लिखते हैं कि दैव विवाह वैदिक यज्ञों के साथ–साथ लुप्त हो गये।

3. आर्ष विवाह (Arsha Marriage) इस प्रकार के विवाह में विवाह का इच्छुक वर कन्या के पिता को एक गाय और एक बैल अथवा इनके दो जोड़े प्रदान करके विवाह करता है। मनु लिखते हैं, गाय और बैल का एक युग्म वर के द्वारा धर्मकार्य हेतु कन्या के लिए देकर विधिवत् कन्यादान करना आर्ष विवाह कहा जाता है। गौतम ने धर्मसूत्र में लिखा है, आर्ष विवाह में वह कन्या के पिता को एक गाय और एक बैल प्रदान करता है। याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि दो गाय लेकर जब कन्यादान किया जाय तब उसे आर्ष विवाह कहते हैं। वर्तमान में इस प्रकार के विवाह प्रचलित नहीं हैं।

4.प्रजापत्य विवाह (Prajapatya Marriage) इसमें लड़की का पिता आदेश देते हुए कहता है तुम दोनों एक साथ रहकर आजीवन धर्म का आचरण करो। कन्यादान करता है तो यह प्राजापत्य विवाह कहलाता है। इस प्रकार के विवाह को ब्राह्म विवाह के समान मना जाता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान अपने वंश की तरह पीढ़ियों को पवित्र करने वाली होता है। डा. अल्टेकर का मत है कि विवाह के आठ प्रकार की संख्या को पूर्ण करने हेतु ही इस प्रकार के रूप दे दिया गया।

5. असुर विवाह (Asura Marriage) मनु लिखते हैं, कन्या के परिवार वालों एवं कन्या को अपनी शक्ति के अनुसार धन देकर अपनी इच्छा से कन्या को ग्रहण करना असुर विवाह कहा जाता है। कन्या जितनी सुंदर होगी धन उतना ही अधिक देना होगा। कन्या मूल्य देकर सम्पन्न किये जाने वाले सभी विवाह असुर विवाह की श्रेणी में आते हैं। कन्या मूल्य

देना कन्या का सम्मान करना है साथ ही कन्या के परिवार की उसके चले जाने की क्षतिपूर्ति भी है। कन्या मूल्य की प्रथा विशेषतः निम्न जातियों में प्रचलित है, उच्च जातियाँ इसे घृणा की दृष्टि से देखती हैं। इस प्रकार के दामाद के लिए 'विजामाता' शब्द का प्रयोग किया गया है।

6.गान्धर्व विवाह (Garandhwa Marriage)जब काम के वशीभूत होकर वर तथा वधू अपनी इच्छा से परस्पर विवाह करे तो इसे गन्धर्व विवाह कहा जाता है। मनु कहते हैं, कन्या और वर की इच्छा से पारस्परिक स्नेह द्वारा काम और मैथुन युक्त भावों से जो विवाह किया जाता है, उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं। याज्ञवल्क्य पारस्परिक स्नेह द्वारा होने वाले विवाह को गान्धर्व विवाह कहते हैं। गौतम कहते हैं, इच्छा रखती हुई कन्या के साथ अपनी इच्छा से सम्बन्ध् स्थापित करना गान्धर्व विवाह कहलाता है। प्राचीन समय में गान्धर्व नामक जाति द्वारा इस प्रकार के विवाह किये जाने के कारण ही ऐसे विवाहों का नाम गान्धर्व विवाह रखा गया है। वर्तमान में हम इसे प्रेम–विवाह के नाम से जानते हैं जिसमें वर एवं वधु एक–दूसरे से प्रेम करने के कारण विवाह करते हैं। इस प्रकार के विवाह में धार्मिक क्रियाएँ सम्बन्ध् स्थापित करने के बाद की जाती हैं। दुष्यन्त का शकुंतला के साथ गान्धर्व विवाह ही हुआ था।

7.राक्षस विवाह (Demon Marriage) मार पीट कपट या युद्ध के द्वारा कन्या का हरण ही राक्षस विवाह है, रोती हुई कन्या को बलात् अपहरण करके लाना 'राक्षस' विवाह कहा जाता है। कन्या का अपहरण करके उसके साथ विवाह करना ही राक्षस विवाह है। इस प्रकार के विवाह उस समय अधिक होते थे। महाभारत काल में इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। श्रीकृष्ण का रुक्मणी एवं अर्जुन का सुभद्रा के साथ भी इसी प्रकार का विवाह हुआ था। इस प्रकार के विवाह क्षत्रियों में अधिक होने के कारण इसे 'क्षत्रिय–विवाह' भी कहा जाता है। आजकाल इस प्रकार के विवाह अपवाद के रूप में ही देखने को मिलते हैं।

8.पैशाच विवाह (Fiend Marriage) यह विवाह प्रथा उस समय से चली आ रही है जब स्त्रिया युद्ध का परितोषिक मानी जाती थी। मनु कहते हैं, सोयी हुई उन्मत्त, घबराई हुई, मदिरापान की हुई अथवा राह में जाती हुई लड़की के साथ बलपूर्वक कुकृत्य करने के बाद उससे विवाह करना पैशाच विवाह है। इस प्रकार के विवाह को सबसे निकृष्ट कोटि का माना गया है। इस प्रकार के विवाह को लड़की का दोष न होने के कारण कौमार्य भंग हो जाने के बाद उसे सामाजिक बहिष्कार से बचाने एवं उसका सामाजिक सम्मान बनाये रखने के लिए ही स्वीकृति प्रदान की गयी है।

विवाह के परम्परागत स्वरूप में आज केवल तीन प्रकार के विवाहों का प्रचलन है ब्रह्म विवाह, असुर विवाह, तथा गंधर्व विवाह ब्रह्म विवाह का प्रचलन सार्वजनिक है। जबकि गंधर्व विवाह का उससे कम मजूमदार का कहना है कि असुर विवाह कुछ निम्न जातियों तथा यदा–कदा उच्च जातियों में पाया जाता है।

बोध प्रश्न:2

प्रश्न:2 हिंदू विवाह के स्वरूपों का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

....

11.8 हिन्दू विवाह के नियम

प्रत्येक हिन्दू जाति में विवाह हेतु कुछ नियमों को निर्धारित किया गया है, जिनको मानना आवश्यक है। साधारणतया भारतीय समाजों में हिन्दू विवाह के नियमों और मान्यताओं को चार भागों में विभाजित किया जाता है।

1. अन्तर्विवाह **(Intermarriage)**
2. बहिर्विवाह **(Exogamy)**
3. अनुलोम विवाह **(Anulom marriage)**
4. प्रतिलोम विवाह **(Reverse marriage)**

1. **अन्तर्विवाह (Intermarriage)** अन्तर्विवाह का तात्पर्य अपनी जाति के अन्दर ही विवाह करने से है, इससे बाहर नहीं। अन्तर्विवाह के अन्तर्गत व्यक्ति को अपने जीवनसाथी का चुनाव स्वजाति, जनजाति, समूह अथवा समुदाय या कभी कभी गोत्र में करने का अधिकार है। भारत में जाति अन्तर्विवाह की प्रथा पाई जाती है अर्थात प्रत्येक हिन्दू अपनी ही जाति में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। गोत्र अन्तर्विवाह के उदाहरण कम ही मिलते है। वास्तव में हिन्दुओं में जाति केवल कुछ उपजातियों में नही वरन् प्रत्येक उपजाति भी अनेक छोटे–छोटे समूहों में बंटी हुई है और ये छोटे–छोटे समूह ही विवाह की इकाई हैं। उदाहरणस्वरूप कपाड़िया ने वैश्यों की एक जाति बनिया को कई उपशाखाओं जैसे लाड़, मोढ़, पोरवाड़, श्रीमाली में बाँट कर उल्लिखित किया है। लाड़ भी बीसा और दस्सा इन दो उपभागों में बँटी है, और लाड़ के अन्तर्गत आई बीसा भी अहमदाबादी, खम्बाती आदि स्थानीय खण्डों में विभाजित है। यह प्रत्येक भाग/उपविभाग अन्तःविवाही है। अन्तर्विवाह की विशेषता इस बात में है कि, इसका प्रत्येक समूह अपने समूह की पहचान को बनाये रखकर इसकी शुद्धता को अविभाज्य और अखण्ड बनाए रखना चाहता है।

2. **बहिर्विवाह (Exogamy)** बहिर्विवाह एक ऐसा नियम है जिसमें व्यक्ति अपने समूह के बाहर विवाह सम्बन्ध स्थापित करता है, उसे अपने समूह में विवाह करने की आज्ञा नहीं दी जाती है। हिन्दू समाज में बहिर्विवाह के लिए निश्चित नियमों के अनुसार व्यक्ति द्वारा अपने गोत्र, पिण्ड तथा प्रवर के बीच विवाह न करके वाह्य समूहों में विवाह किया जाए। यह अन्तर्विवाह की प्रथा के ठीक विपरीत चलन है। भारतवर्ष की जनजातियों में टोटम बहिर्विवाह को नियम पाया जाता है। अर्थात जिन व्यक्तियों का एक टोटम है वे आपस में विवाह नही कर सकते। भारत में इस नियम के अनुसार एक व्यक्ति को अपने व अथवा गोत्र समूह में विवाह करना निषिद्ध एवं अनुचित माना जाता है।

3. **अनुलोम विवाह (Anulom marriage)** जब एक उच्च वर्ण, जाति, उपजाति, कुल और गोत्र के लड़के का विवाह उससे निम्न वर्ण, जाति, उपजाति, कुल और वंश की कन्या से होता है तब यह अनुलोम विवाह कहलाता हैं। अर्थात् इसमें पति अपनी पत्नी से उच्च कुल या समूह का होता है। इस प्रथा के अनुसार उच्च सामाजिक प्रस्थिति वाले लोग अपनी पुत्री का विवाह निम्न प्रस्थिति वाले परिवार में करना पसन्द नहीं करते है, किन्तु वे ऐसे परिवारों से कन्या आवश्य ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार के विवाह में साधारणतः स्त्री की तुलना में पुरूष का वर्ण उच्च होता है। याज्ञवक्लय के अनुसार ब्राह्मण चार विवाह कर सकता हैएक अपने वर्ण की लड़की से और एक–शेष तीन वर्णों की लड़कियों से। क्षत्रिय तीन विवाह कर सकता है एक अपने वर्ण की लड़की से दो अन्य वर्ण की लड़की से विवाह कर सकता हैएक तो अपने वर्ण की लड़की से और एक शूद्र वर्ण की लड़की से। शूद्र केवल अपने वर्ण की लड़की से वैवाहिक संबंध स्थापित कर सकता है। उदाहरण के तौर पर एक ब्राह्मण अपनी जाति की कन्या के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कन्या से भी विवाह कर सकता है। वर्तमान में विवाह हेतु उपरोक्त नियम देश के कई भागों और जातियों में प्रचार में हैं।

4. **प्रतिलोम विवाह(Reverse marriage)** जब एक निम्न वर्ण, जाति, उपजाति, कुल या वंश के लड़के का विवाह उच्च वर्ण, जाति, उपजाति, कुल या वंश की कन्या के साथ हो तो तब यह प्रतिलोम विवाह कहलाता है अर्थात जब पत्नी अपने पति से उच्च कुल की होती है। वह विवाह अनुलोम विवाह का ठीक विपरीत है। ऐसे विवाहों के बाद स्त्री की स्थिति निम्न हो जाती है और पुरूष की स्थिति में कोई अन्तर नही आता। इस प्रकार का विवाह समाज द्वारा अनुमोदित और मान्य नहीं है। खासकर ब्राह्मण लड़की का शूद्र के पुरूष को अति निकृष्ट बताया जाता है। उदाहरण स्वरूप हिन्दू जाति–प्रथा के अर्न्तगत किसी शूद्र पुरूष द्वारा ब्राह्यण, क्षत्रिय, या वैश्य कन्या से किया गया विवाह इसी श्रेणी में आता है। हालांकि शिक्षा के प्रभाव से इस विवाह के प्रचलन में आजकल वृद्धि देखी जा रही है।

11.9 मुस्लिमों में विवाह

मुसलमानों में विवाह के लिए निकाह शब्द का प्रयोग किया जाता है। मुस्लिम विवाह की परिभाषा देते हुये डी. एफ मुल्ला कहते हैं निकाह (विवाह) एक शिष्ट सामाजिक समझौता है जिसका उद्देश्य संतान उत्पन्न करना एवं उनको वैध घोषित करना हैं। के. एम. कापड़िया मानते हैं कि इस्लाम में विवाह एक अनुबन्ध है जिसमें दो साक्षियों के हस्ताक्षर होते हैं। इस अनुबन्धन का प्रतिफल मेहर" वधू को दिया जाता हैं। इसकी रकम कानून द्वारा निर्धारित नहीं होने से एक दीनार से ऊपर घटती बढ़ती रहती है।

(1) मुस्लिम विवाह एक सामाजिक समझौता हैं।

मुस्लिम विवाह धार्मिक कृत्य नहीं है बल्कि एक धर्म निरपेक्ष बंधन है। साहचर्य की निधि अर्थात चचेरे भाई–बहनों और प्राथमिक समान्तर नातेदारों में भी विवाह हो सकता है। कुछ मुसलमान पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता है। शर्त केवल यह है कि दो बहनें या बुआ और भतीजी एक ही व्यक्ति की पत्नी नहीं हो सकती और एक समय में कोई व्यक्ति चार से अधिक पत्नियाँ नहीं रख सकता। मुसलमान अपनी दिवंगत पत्नी की बहन से या

अपने बच्चों के सास–ससुर से शादी कर सकते हैं। मुसलमान गैर–मुस्लिम स्त्री से भी शादी कर सकता है अगर वह यहूदी या ईसाई जैसे किसी गैर–मूर्तिपूजक धार्मिक संप्रदाय से संबंधित है। पर मुसलमान स्त्री को यही अधिकार समान रूप से प्राप्त नहीं हैं। एक कानूनी–दस्तावेश पर हस्ताक्षर के द्वारा विवाह को सुदृढ़ अनुबंध का रूप दिया जाता है जिसे तोड़ा भी जा सकता है पर तलाक पति के विशेषाधिकार के अंतर्गत आने वाली चीज है। वह बिना किसी कारण के तलाक दे सकता है। कम से कम दो गवाहों की उपस्थिति में अगर सिर्फ तीन बार तलाक शब्द कहा जाए तो पति और पत्नी के बीच संबंध विच्छेद हो सकता है। पर इसके बाद पति को भरपाई के रूप में कुछ नियत राशि पत्नी को देनी पड़ती है। यह एक अनुबंध् के तहत होता है जिसके द्वारा मृत्यु और तलाक की स्थित में पत्नी क्षति पूर्ति के रूप में पति की संपत्ति का एक खास हिस्सा पाने की हकदार होती है। पत्नी विवाह के बंधन से मुक्त हो सकती है अगर इस दृष्टि से उसने पति की सहमति हासिल कर ली हो। यह सहमति अनिवार्य है अगर पति और पत्नी संबंध विच्छेद आपसी सहमति के आधर पर होता है तो इसे 'मुबारत' कहा जाता है। कुछ खास परिस्थितियों में इस्लाम पत्नी को एक पक्षीय कदम उठाने की अनुमति देता है। विधवा स्त्री का पुनर्विवाह भारतीय मुसलमानों में आमतौर पर प्रचलित है।

11.10 मुस्लिम विवाह के प्रकार

1. वैध विवाह – ऐसा विवाह जो मुस्लिम विवाह की समस्त शर्तों को पूरा करते हुये किये गये हैं वैध विवाह कहते हैं। हमारे देश के अधिकांश मुसलमानों में विवाह के इसी स्वरूप का प्रचलन हैं। इस विवाह की प्रकृति आम तौर पर तब तक स्थायी होती है जब तक कि कोई पक्ष दूसरे पक्ष को तलाक नहीं दे। इस प्रकार के विवाह में वर और वधू की स्वीकृति आवश्यक होती है। नाबालिग होने की स्थिति में संरक्षक की अनुमति/स्वीकृति आवश्यक होती है। प्रत्येक पक्ष एक साक्षी होता है तथा काजी की उपस्थिति अनिवार्य होती है। शरीयत के अनुसार अन्य आवश्यक शर्तें पूर्ण करते हुए विवाह किया जाता हैं।

2. मुताह विवाह – इस विवाह की प्रकृति अस्थायी होती है अर्थात् यह विवाह पति और पत्नी के बीच एक निश्चित अवधि के लिये किया गया समझौता है जैसे ही समझौते की अवधि समाप्त होती है विवाह सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है। मुताह विवाह में भी मेहर की रकम निश्चित की जाती है जिसे विवाह की अवधि समाप्त होते ही पति पत्नी को चुकाता है। इस विवाह के द्वारा उत्पन्न सन्तान को वैध माना जाता है तथा उसका पिता की सम्पत्ति पर अधिकार भी होता है। वर्तमान समय में इस विवाह का प्रचलन समाप्त होता जा रहा है।

सन् 1939 में मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम पारित किया गया और मुस्लिम स्त्रियों की विवाह विच्छेद सम्बन्धी सभी निर्योग्यताएँ दूर कर उन्हें व्यापक अधिकार प्रदान किये गये। अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार यदि पति का चार वर्षों से कोई पता न हो, दो वर्ष से पत्नी का भरण–पोषण करने में असमर्थ हो, बिना किसी उचित कारण के तीन वर्षों से वैवाहिक कर्तव्य को निभाने में असमर्थ रहा हो, सात या अधिक वर्षों के लिए पति को जेल की सजा मिली हो, पति पागल हो, कोढ़ी हो, पत्नी के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता हो, उसके धार्मिक कार्यों में रुकावट डालता हो, उसकी सम्पत्ति को बेचता हो, सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों में बाधा उत्पन्न करता हो, सभी पत्नियों के साथ समानता का व्यवहार नहीं करता हो आदि आधारों पर विवाह विच्छेद की मांग का अधिकार मुस्लिम स्त्रियों को दिया गया। इस अधिनियम के पारित होने से पहले मुस्लिम स्त्री को बिना पति की स्वीकृति के विवाह विच्छेद का अधिकार नहीं था।

11.11 ईसाई विवाह

ईसाई विवाह की परिभाषा देते हुए क्रिश्चियन बुलेटिन में कहा गया है कि "विवाह समाज में एक पुरुष तथा एक स्त्री के बीच एक समझौता है जो साधारणतः सम्पूर्ण जीवन भर के लिये होता है और इसका उद्देश्य परिवार की स्थापना है। इस परिभाषा से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं–

1. ईसाई विवाह स्त्री पुरुष के बीच एक समझौता है।
2. यह समझौता आजीवन रहता है।
3. यह समझौता जीवन भर के लिये किये जाने के कारण पति और पत्नी के सम्बन्धों में स्थिरता लाता है।
4. इस समझौते के द्वारा सन्तानोत्पत्ति के माध्यम से परिवार का निर्माण किया जाता है।

11.12 ईसाई विवाह के मुख्य दो प्रकार

1. धार्मिक विवाह : ये विवाह गिरजाघरों में पादरी द्वारा वर व वधू को पति पत्नी घोषित करने के साथ सम्पन्न होता है अधिकांशतः ऐसे विवाह नियोजित होते हैं।

2.सिविल मैरिज : विवाह के इच्छुक युवक व युवती को मैरिज रजिस्ट्रार, पति पत्नी घोषित कर देता है।

11.13 ईसाई विवाह से सम्बन्धित विधान

1. भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम 1872 ईसाई धर्म की दो शाखाएँ हैं रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट रोमन कैथोलिक विवाह विच्छेद को स्वीकार नहीं करते हैं जबकि प्रोटेस्टेण्ट प्रस्थिति में इसे स्वीकार करते हैं। 1869 में पारित भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम के अनुसार एक ईसाई स्त्री भी उन्हीं आधारों पर विवाह विच्छेद की माँग कर सकती है जिन आधारों पर हिन्दू स्त्री को विवाह विच्छेद की मांग का अधिकार है।

2. भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम 1872 के अनुसार विवाह के लिये लड़के की आयु 16 वर्ष और लड़की की आयु 13 वर्ष होना अनिवार्य है। लड़के और लड़की की आयु इससे कम होने पर उनके संरक्षक की स्वीकृति अनिवार्य है। विवाह के समय दोनों में से किसी का भी पहला जीवन साथी नहीं होना चाहिये। पादरी या सरकार द्वारा लाइसेन्स प्राप्त व्यक्ति अथवा सरकार द्वारा नियुक्त मैरिज रजिस्ट्रार दो ईसाईयों के बीच विवाह करवा सकते हैं। मैरिज

रजिस्ट्रार की अनुपलब्धता पर जिला मजिस्ट्रेट विवाह करवा सकता है। विवाह के समय दोनों पक्ष पादरी अथवा मैरिज रजिस्ट्रार के सम्मुख दो गवाहों की मौजूदगी में ईश्वर की शपथ लेकर वैधानिक रूप से एक दूसरे को पति – पत्नी स्वीकारते हैं।

11.14 हिन्दू विवाह में आधुनिक परिवर्तन

आधुनिक भारत में आए परिवर्तनों में एक है विवाह के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन, इसलिए विवाह के विविध पक्षों विवाह के उद्देय में परिवर्तन, विवाह के स्वरूप में परिवर्तन, साथी चुनाव की प्रक्रिया में परिवर्तन, विवाह की आयु में परिवर्तन, विवाह के स्थायित्व में परिवर्तन, विवाह के आर्थिक पहलू में परिवर्तन, विधवा पुनर्विवाह पर कानूनो की आवयकता हुई जिस कारण आज विवाह का वह पुराने नियम दृष्टिगत नही होते जो कई वर्षों पूर्व दिखायी देता था। आज विवाह संस्था मे अनेक परिवर्तन देखने को मिलते है जिसका मुख्य कारण यह है कि समय समय पर वैधानिक नियम और कानूनों द्वारा विवाह के नियमों में परिवर्तन करना। जैसे विवाह की आयु, साथी का चुनाव, विवाह में पति पत्नी की संख्या, पुनर्विवाह, दहेज लेना व देना और विवाह विच्छेद। इन पक्षों से सम्बद्ध विविधि विधान इस प्रकार हैं।

- **बाल विवाह निग्रह अधिनियम,1929**

यह अधिनियम अप्रैल 1930 में लागू हुआ । जो बाल विवाह को रोकता है। तदनुसार 18 वर्ष से कम लड़के की तथा 14 वर्ष से कम लड़की का विवाह तय करना तथा सम्पन्न कराना आदि कानूनी अपराध था। बाद में लड़की की आयु बढ़ाकर 15 वर्ष कर दी गई थी। जिसे 1978 के संसोधन के पश्चात लड़के की आयु 21 वर्ष तथा लड़की की आयु 18 वर्ष कर दी गई। अधिनियम का उल्लंघन करने पर दण्ड का प्रावधान है लेकिन विवाह स्वयं में वैध रहता है। इसके अंतर्गत अपराध संज्ञय है और माता पिता, पंड़ित, वर और संरक्षक तक के लिए तीन वर्ष कारावास और 1000 का जुर्माने का प्रावधान है। महिला को कारावास के दण्ड का प्रावधान नही है। इस अधिनियम के अंतर्गत ऐसे अपराध के लिए आरोपित पर कोई कार्यवाही नही की जा सकती यदि विवाह को एक वर्ष का समय व्यतीत हो चुका हो।

- **हिन्दू विवाह निर्योग्यता निवारक अधिनियम, 1946**

हिन्दुओं में कोई विवाह यदि निषेधों की सीमा में आपस में संबंधित व्यक्तियो के मध्य हुआ हो तो वह वैध नही कहलाता है जब तक ऐसा विवाह रिवाजो द्वारा मान्यता प्राप्त न हो। इस अधिनियम के अंतर्गत प्रवर तथा गोत्र विवाह को वैध करार दिया गया है लेकिन हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के पारित होने के पश्चात यह अधिनियम निरस्त कर दिया गया।

- **हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम, 1949**

हिन्दुओं में प्रतिलोम विवाह अवैध तथा अनुलोम विवाह अनुमान्य था। 1949 के अधिनियम ने वे सभी विवाह वैध घोषित कर दिये जो भिन्न जातियों, धर्मों, उपजातियों, के बीच सम्पन्न होते थे। लेकिन एक हिन्दू व मुसलमान के बीच विवाह को वैध नहीं माना गया। 1955 के अधिनियम के पश्चात यह नियम निरस्त हो गया।

- **हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955**

हिन्दू विवाह अधिनियम पारित हुआ और 18 मई 1955 से जम्मू कश्मीर को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में लागू किया गया। इस अधिनियम द्वारा विशेष विवाह अधिनियम 1954 को छोड़कर हिन्दू विवाह से संबंधित अन्य सभी अधिनियम रद्द कर दिये गए। हिन्दू शब्द के अंतर्गत जैन, बौद्ध, सिक्ख, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज तथा हरिजनों को सम्मिलित किया गया। यह कानून केवल अनुसूचित जातियों के लोगों पर केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना लागू नही होगा। इस अधिनियम में हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न विवाह विधियों को मान्यता प्रदान की गयी हैं।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 43 के अनुसार विवाह विच्छेद पति पत्नी में से कोई भी पक्ष व्यभिचार, क्रूरतापूर्ण व्यवहार, सात वर्ष तक परित्याग, धर्म परिवर्तन, असाध्य पागलपन, असाध्य कोढ़ या यौन रोग, सन्यास, न्यायिक पृथक्करण के बाद दो वर्ष तक समागम नही, विगत सात वर्षों तक जीवित न रहने की खबर आदि के आधार पर हो सकता है। पत्नी भी तलाक के लिए प्रार्थना कर सकती है। यदि उसका पति पहले भी एक

स्त्री रखता हो। सन् 1986 का संसोधन परस्पर सहमति तथा असंगतता के आधार पर विवाह विच्छेद की अनुमति देता है। न्यायालय में विवाह विच्छेद के लिए प्रार्थना पत्र विवाह के तीन वर्ष पूर्ण हो जाने के पश्चात स्वीकार्य होते है।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 से संबद्ध प्रावधान इस प्रकार है।

- विवाह करने वाले दोनो में से किसी का भी पहला जीवन साथी जीवित न हो।
- वर की आयु 18 तथा वधू की आयु 15 वर्ष पूरी होनी चाहिए। 1978 के संसोधन के पश्चात लड़के की आयु 21 वर्ष तथा लड़की की आयु 18 वर्ष कर दी गई।
- वर–वधू दोनो पक्ष निषेधात्मक संबंधों की श्रेणी में न आते हो। बशर्ते कि कोई प्रथा जिसके द्वारा वे नियंत्रित होते हो इस प्रकार के विवाह की आज्ञा नही देती हो।
- वर वधू एक दूसरे के सपिण्ड न हो। जब तक कि रिवाज अनुमति न दे।
- दोनों पक्ष में से कोई पक्ष मानसिक असंतुलन या पागलपन के कारण विवाह के लिए सहमति देने योग्य न हो।
- जहां वधू की 18 से कम और वर 21 वर्ष से कम हो उनके विवाह में माता–पिता की सहमति होना आवश्यक है।

अधिनियम न्यायिक पृथक्करण तथा विवाह निरस्त करने की प्रक्रिया की अनुमति देता है। कोई भी पक्ष चार आधारों पर न्यायिक पृथक्करण ले सकता है –

- दो वर्ष तक निरन्तर त्याग
- निर्दयी व्यवहार
- कोढ़
- व्यभिचार

निम्न आधारों पर किसी पक्ष द्वारा विवाह समाप्ति की मांग की जा सकती है–

- यदि विवाह के समय कोई पक्ष नपुंसक हो और मुकदमा चलने के समय तक भी वही स्थिति हो।
- यदि विवाह के समय कोई भी पागल या बुद्धि रहित हो।
- यदि विवाह के एक वर्ष की अवधि में यह सिद्ध हो जाये कि विवाह के लिए प्रार्थी या उसके अभिभावक की स्वीकृति जबरन या धोखे से ली गयी हो।
- यदि विवाह के भीतर यह सत्यापित हो जाए कि विवाह के समय पत्नी किसी अन्य पुरूष से गर्भवती थी और प्रार्थी को इस संबंध में कोई जानकारी नही थी।

बोध प्रश्न:3

प्रश्न:3 हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की संक्षिप्त व्याख्या करे ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

➢ विशेष विवाह अधिनियम 1954

सन 1954 में पारित विशेष विवाह अधिनियम के द्वारा 1972 में पारित विधान को समाप्त कर दिया गया। इस अधिनियम के अंतर्गत दो भारतीयों को, चाहे वे किसी भी धर्म अथवा जाति के क्यों न हो, न्यायालय की सहायता से विवाह करने का अधिकार प्रदान किया गया। अब उनके लिए घोषित करना आवश्यक नही था कि वे किसी भी धर्म को नहीं मानते है। यह विवाह की निम्नलिखित सर्तों के पूरा होने पर वैध होगा।

- दोनों में से किसी का भी पति या पत्नी जीवित न हो।
- विवाह के समय वर की आयु 21 तथा वधू की आयु कम से कम 18 वर्ष हो।
- दोनों में से कोई बुद्धि रहित या पागल न हो।
- वर–वधू एक दूसरे के वर्जित संबंधों की श्रेणी में न आते हो।
- यदि विवाह कानून के क्षेत्र से बाहर किसी अन्य स्थान पर हो तो वर–वधू का भारतीय नागरिक एवं निवासी होना आवश्यक है।

इस अधिनियम के अंतर्गत विवाह करने वाले व्यक्ति, कानून की दृष्टि से अपने संयुक्त परिवार से पृथक माने जाएंगे। संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में उनके उत्तराधिकारी का निर्धारण भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम 1925 के आधार पर होगा। इस अधिनियम में विवाह निरस्त करने, विवाह विच्छेद, न्यायिक पृथक्करण तथा निर्वाह व्यय आदि प्रावधान है। इनके आधार वहीं हैं जो हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में दिए गए हैं।

➢ हिन्दू विवाह पुनर्विवाह अधिनियम 1856

प्राचीन काल में विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान नहीं थी। 1856 के अधिनियम ने हिन्दु विधवाओं के विवाह में आने वाली सभी कानूनी अड़चनों को दूर कर दिया। इस अधिनियम का उद्देश्य था कि जन कल्याण तथा उच्च आदर्शो को प्रोत्साहन देना। इसके अंर्तगत ऐसी विधवा जिसका पति उसके दूसरे विवाह के समय से ही स्वर्गवासी हो गया हो, का पुनर्विवाह वैध है और ऐसे विवाह की कोई भी संतान अवैध नही है। अगर पुनर्विवाह

करने वाली विधवा अल्पव्यस्क हो तो उसके माता–पिता या संरक्षक या भाई की सहमति अनिवार्य है।

- **दहेज निषेध अधिनियम, 1961**

इस अधिनियम 20 मई 1961 को पारित हुआ और इस अधिनियम में संसोधन कर इसे 2 अक्टूबर 1985 से नए रूप् में लागू किया गया।

- दहेज लेन देन व दहेज की मांग करने वालों के लिए सजा की अवधि 6 माह से बढाकर 2 वर्ष कर दी गयी। कम से कम 6 माह की जेल की सजा का प्रावधान किया गया है।
- दहेज देने, लेने या दहेज की मांग करने वाले लोगों के लिए जुर्माना राशि 5 हजार से बढाकर 40 हजार रूपये कर दिया गया है।
- विवाह के समय वर वधू को कोई बिना मांग किए भेंट में दी गयी वस्तु को दहेज नहीं माना जाएगा अगर उन उपहारों की सूची में सम्मिलित किया गया हो।
- संशोधित कानून के द्वारा अब मान्यता प्राप्त जन कल्याण संस्थाएं या संगठन दहेज संबंधी अपराधों के बारे में शिकायत दर्ज करा सकेगें न्यायालयों को इन शिकायतो की सुनवाई करनी होगी।
- यह कानून सभी धर्मो के लोगों में लागू होगा।
- दहेज निरोधक कानून में विवाह के अवसर पर जो दहेज या भेंट मिलती है उस पर वधू का स्वामित्व माना गया है।

11.15सारांश

- विवाह का शाब्दिक अर्थ है, 'वधू को वर के घर ले जाना।'
- विवाह स्त्री–पुरुष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की संस्था है।
- मरडॉक के अनुसार सभी समाजों में विवाह के तीन उद्देश्य हैं यौन संतुष्टि, आर्थिक सहयोग, संतानों का समाजीकरण एवं लालन–पालन।

- हिन्दू धर्म में विवाह को एक संस्कार माना गया है।
- हिन्दू विवाह के प्रमुख आठ स्वरूप हैं ब्राह्म विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह, प्रजापत्य विवाह, असुर विवाह, गांधर्व विवाह, राक्षस विवाह, पैशाच विवाह।
- मुस्लिम विवाह धार्मिक कृत्य नहीं बल्कि धर्म निरपेक्ष बंधन है। मुस्लिम गैर–मुस्लिम लड़की से भी शादी कर सकता है यदि वह यहूदी, ईसाई या गैर–मूर्तिपूजक धार्मिक संप्रदाय से हो। किन्तु ये अधिकार मुस्लिम स्त्री को प्राप्त नहीं है।

11.16 बोध प्रश्न

प्रश्न:1 विवाह के अर्थ एव परिभाष का वर्णन कीजिये ?

प्रश्न:2 हिंदू विवाह के स्वरूपों का वर्णन करें।?

प्रश्न:3 हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की संक्षिप्त व्याख्या करे ?

प्रश्न:4 वर्तमान समय मे हिन्दू विवाह के लिए लड़के एंव लडकियों की उम्र क्या है ?

(1) 12 से 15 वर्ष (2) 16 से 20 वर्ष (3) 21 से 25 वर्ष (4) 26 से 30 वर्ष

प्रश्न:5 ईसाई विवाह मुख्यतय कितने प्रकार का होता है।?

(1) दो प्रकार (2) तीन प्रकार (3) चार प्रकार (4) पाँच प्रकार

प्रश्न:6 मुस्लिम विवाह एक सामाजिक समझौता हैं। ?

(1) सत्य (2) असत्य

11.17 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1 : 11.2 विवाह का अर्थ एवं परिभाषा को देखे।

प्रश्न 2 : 11.7 हिन्दू विवाह के प्रमुख स्वरूप को देखे।

प्रश्न 3 : हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 को देखे।

प्रश्न 4 (3)

प्रश्न 5 (1)

प्रश्न 6 (1)

11.18 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- डी. एन. मजूमदार और टी. एन. मदान (1960), एन इंट्रोडक्शन टू सोशल एंथ्रोपोलॉजी, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बॉम्बे।
- जी एस घुर्ये (1950), कास्ट, क्लास एंड ऑक्यूपेशन, पॉपुलर बुक डिपो, बॉम्बे।
- एम. हरालाम्बोस और आर.एम. हील्ड (1997), सोशियोलॉजीरू थीम्स एंड पर्सपेक्टिव्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
- पी. गिस्बर्ट (1973), फंडामेंटल ऑफ सोशियोलॉजी, ओरिएंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
- अमर्त्य सेन (2001), ष्जेंडररू सेवन टाइप्स ऑफ़ इनइक्वलिटी इन ह्यूमन राइट्स विज़न, अंक संख्या 22, 08 दिसंबर, 2001
- एस. वी. केतकर (1909), द हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इंडिया, रावत प्रकाशन, जयपुर।

इकाई-१२ नातेदारी एंव इसके बदलते प्रतिमान

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 नातेदारी का अर्थ एवं परिभाषा

12.3 नातेदारी की प्रमुख विशेषताएँ

12.4 नातेदारी का सामाजिक महत्व

12.5 नातेदारी की श्रेणियाँ

12.6 नातेदार समूह, सहवंशीय स्वजन

12.7 नातेदारी के भेद

12.8 सामाजिक सरंचना में नातेदेरी की भूमिका एव महत्त्व

12.9 नातेदारी पर आधुनिकता का प्रभाव

12.10 सारांश

12.11 बोध प्रश्न

12.12 बोध प्रश्न के उत्तर

12.13 संदर्भ ग्रंथसूची

12.0 उद्देश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी समझ सकेंगें।

- नातेदारी के अर्थ एंव परिभाषा को समझ पाएँगे।
- नातेदारी की विशेषता एवं महत्त्व की जानकारी होगी।
- कुल, गोत्रा, भ्रातृदल, द्विदल के अर्थ को समझना।
- नातेदार समूह,सहवंशीय स्वजन की अवधरणा की जानकारी।
- नातेदारी व्यवस्था में वंशानुक्रम के निर्धरण को समझना।

12.1 प्रस्तावना

अंग्रेजी भाषा के Kinship शब्द की हिन्दी रूपांतर के अर्थ मे नातेदारी एवं स्वजन की गयी है। नातेदारी एवं विवाह जीवन के आधरभूत तथ्य हैं। यौन इच्छा विवाह को जन्म देती है और विवाह परिवार एवं नातेदारी को। सृष्टि के प्रारम्भ से ही जिन बातों ने व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है, उनमें आर्थिक हित और समान सुरक्षा महत्त्वपूर्ण हैं। सामूहिक सुरक्षा की भावना ने ही कई छोटे–मोटे संघों के निर्माण की प्रेरणा दी जो परिवार से लेकर राष्ट्र तक हैं। समान भाषा, धर्म, जाति एवं राष्ट्र के लोगों के बीच व्यक्ति अपने को अधिक सुरक्षित महसूस करता है, लेकिन इनसे भी अधिक सुरक्षित वह अपने को नातेदारों में पाता है, जिनके साथ उसके सामाजिक, नैतिक, आर्थिक हित जुड़े हुए हैं।

बच्चे को जन्म देने की इच्छा एक अन्य प्रकार के सुदृढ़ संबंध का भी सूत्रपात करती है। यह संबंध स्त्री और पुरुष का अपने ससुराल वालों के साथ संबंध के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार के रिश्ते जो सामाजिक या कानूनरूप से परिभाषित वैवाहिक सम्बन्धों के कारण बनते हैं विवाह सम्बन्धी नातेदारी कहे जाते हैं। वैवाहिक रूप से सम्बन्ध रिश्तेदार एक दूसरे से खून के आधार पर नहीं जुड़े होते। इस प्रकार नातेदारी को हम रक्त सम्बन्ध

या शादी के आधार पर निसृत सामाजिक सम्बन्ध के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। नातेदारी समूह (किनशिप– ग्रुप) एक ऐसा समूह है जिसके सदस्य रक्त अथवा विवाह के बंधन के आधार पर परस्पर जुड़े होते हैं।

12.2 नातेदारी का अर्थ एवं परिभाषा

मनुष्य समाज में जन्म के बाद से ही अनेक लोगों से सम्बन्धित हो जाता है। इन सम्बन्धों में रक्त एवं विवाह के आधार पर बने सम्बन्ध अधिक स्थायी एवं घनिष्ठ होते हैं। सम्बन्धों का निर्माण मानव द्वारा की जाने वाली सामाजिक अन्तःक्रिया का ही परिणाम है। जिन विशिष्ट सामाजिक सम्बन्धों द्वारा मनुष्य बंधे होते हैं वे सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं, उन सम्बन्धों को हम नातेदारी के अन्तर्गत सम्मिलित कर सकते हैं। सभी समाजों में नातेदारी एवं विवाह सामाजिक जीवन के आधारभूत स्तम्भ हैं। नातेदारी से अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों की व्यवस्था से है जो कि प्रजनन एवं वास्तविक वंशावली के आधार पर परस्पर सम्बन्धित हैं अर्थात् विवाह या रक्त सम्बन्धों के आधार पर जुड़े हुए व्यक्ति नातेदारी व्यवस्था का निर्माण करते हैं। नातेदारी की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित है –

1. लूसी मेयर के अनुसार – बन्धुत्व में सामाजिक सम्बन्धों को जैविक शब्दों में व्यक्त किया जाता है।

2. रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार – नातेदारी सामाजिक उद्देश्यों के लिये स्वीकृत वंश सम्बन्ध है जो कि सामाजिक सम्बन्धों के परम्परात्मक सम्बन्धों का आधार है।

3. रॉबिन फॉक्स के अनुसार – नातेदारी की अत्यन्त सामान्य परिभाषा यह है कि नातेदारी केवल मात्र स्वजन अर्थात् वास्तविक ख्यात् अथवा कल्पित समरक्तता वाले व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध हैं।

4. एस0 एल0 शर्मा के अनुसार – नातेदारी उस व्यवस्था का नाम है जो स्वजनों के परस्पर सम्बन्धों को नियमित करती है। ये स्वजन वास्तविक हो सकते हैं और काल्पनिक भी।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि नातेदारी व्यवस्था से अभिप्राय नातेदारी सम्बन्धों द्वारा बंधे व्यक्तियों की व्यवस्था है। परिवार, वंश, कुल, गोत्र आदि ऐसे समूहों के कुछ उदाहरण हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट है कि हम संगोत्रता; नातेदारी में उन व्यक्तियों को सम्मिलित करते हैं जिनसे हमारा सम्बन्ध वंशावली के आधर पर होता है और वंशावली सम्बन्ध परिवार से पैदा होता है एवं परिवार पर ही निर्भर हैं। ऐसे सम्बन्धों को समाज की स्वीकृति आवश्यक है। कभी–कभी प्राणीशास्त्रीय रूप से सम्बन्ध न होने पर भी यदि उन सम्बन्धों को समाज ने स्वीकार कर लिया है तो वे नातेदार माने जाते हैं। उदाहरण के लिए, गोद लिया हुआ पुत्रा पिता का असली पुत्रा नहीं है, परन्तु उन सम्बन्धों को समाज ने स्वीकार कर लिया है, अतः वे एक–दूसरे के नातेदार माने जाते हैं।

12.3 नातेदारी की प्रमुख विशेषताएँ

1. नातेदारी व्यवस्था सार्वभौम व्यवस्था है तथा यह सर्वत्र समाजों में ही विद्यमान रही है तथा आज भी है।
2. नातेदारी व्यवस्था में विशिष्टता पाई जाती है अर्थात् इसका स्वरूप विभिन्न समाजों में भिन्न–भिन्न हो सकता है।
3. नातेदारी व्यवस्था सामाजिक संगठन का आधार है।
4. नातेदारी व्यवस्था सरलतम व्यवस्था है जिसे समझना एवं व्यक्त करना एक सरल कार्य हैं।
5. नातेदारी व्यवस्था सरल समाजों की अपेक्षा जटिल समाजों में अधिक भिन्नता रखती है ।
6. नातेदारी के माध्यम से विवाह एवं परिवार का निर्धारण।
7. वंश उत्तराधिकार एवं पदाधिकार का निर्धारण।
8. आर्थिक हितों की सुरक्षा,मानसिक संतोष।
9. मानवशास्त्रीय ज्ञान का आधार।

10. सामाजिक दायित्वों का निर्वाह।

12.4 नातेदारी का सामाजिक महत्व

अन्य सामाजिक संस्थाओं के समान नातेदारी भी एक प्रमुख संस्था है। किसी सामाजिक संरचना को समझने के लिए इसका विशेष महत्व है। वास्तव में, नातेदारी एक ऐसी संस्था है जो एक वंश के विभिन्न सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित करती है तथा दूसरे सदस्यों की तुलना में व्यक्ति के अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण करती है। सरल समाजों में व्यक्ति के व्यवसाय, उत्पादन, उपभोग के रूप तथा मताधिकार आदि की प्रकृति का निर्धारण भी अक्सर नातेदारी सम्बन्धों के आधार पर ही किया जाता है। विभिन्न क्षेत्रों में नातेदारी की इस सामाजिक भूमिका को निम्न प्रकार समझा जा सकता है।

1. ब्राउन का कथन है कि नातेदारी का मुख्य कार्य विवाह और परिवार के रूप को व्यवस्थित बनाना है। कृषक और जनजातीय समाजों का रूप इतना सरल होता है कि यहां व्यक्ति के सामाजिक तथा पारिवारिक सम्बन्धों को व्यवस्थित बनाने के लिए कोई निश्चित नियम नहीं बनाए जा सकते। इस दशा में नातेदारी सम्बन्धों द्वारा ही यह स्पष्ट किया जाता है कि एक व्यक्ति के सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों से किस प्रकार के होंगे, व्यक्ति किस समूह और कुल में विवाह सम्बन्ध स्थापित करेगा तथा सम्पत्ति अधिकारों के विषय में व्यक्ति के व्यवहार क्या होंगे।

2. मरडॉक ने लिखा है कि नातेदारी व्यक्ति की द्वितीय रक्षा पंक्ति है। इसका तात्पर्य है कि सरल समाजों में नातेदारी सम्बन्ध व्यक्ति के सामाजिक बीमे का कार्य करते हैं। किसी विपत्ति अथवा कठिनाई के समय नातेदारों के द्वारा ही व्यक्ति को सामाजिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक सुरक्षा प्रदान की जाती है। इससे व्यक्ति स्वयं को अकेला और असहाय महसूस नहीं करता।

3. व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण करने में भी नातेदारी सम्बन्धों की विशेष भूमिका है। सरल और छोटे समाजों में व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण उसके

वंश की प्रतिष्ठा और शक्ति के आधार पर होता है। इसी कारण नातेदारी सम्बन्धों से बंधे हुए व्यक्ति सदैव एक–दूसरे की सहायता करते रहने का प्रयत्न करते हैं।

4. सामाजिक संगठन को सुदृढ़ बनाने में भी नातेदारी का विशेष महत्व है। इस सम्बन्ध में नेल्सन बर्न ने लिखा है कि नातेदारी व्यवस्था में वे सभी तत्व विद्यमान हैं जिनकी समाज को संगठित बनाने के लिए आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, सम्बन्धों की प्रगाढ़ता, प्रस्थिति और भूमिका का निर्धारण, सदस्यों द्वारा दायित्वों का निर्वाह तथा सामाजिक मूल्यों का पालन आदि इसी तरह के तत्व हैं।

5. नातेदारी का एक विशेष कार्य व्यक्ति को अपने सामाजिक–सांस्कृतिक उत्तरदायित्वों का प्रशिक्षण देना है। नातेदारी समूह एक वृहत् परिवार अथवा कुल के समान है जिसमें सभी व्यक्ति बिना किसी स्वार्थ के अधिक–से–अधिक उत्तरदायित्वों को पूरा करते हैं तथा अपनी पारिवारिक प्रस्थिति, आयु और लिंग का ध्यान रखते हुए दूसरे सदस्यों को वंश के नियमों तथा सामाजिक मूल्यों का पालन करने का प्रशिक्षण देते हैं। इसी के फलस्वरूप व्यक्ति का जीवन अधिक अनुशासित बन जाता है।

6. नातेदारी व्यवस्था अनेक सांस्कृतिक नियमों से बंधी होने के कारण परिवर्तनशील नहीं होती। इसके फलस्वरूप नातेदारी सम्बोधनों तथा नातेदारी की श्रेणियों के द्वारा एक विशेष समूह तथा कुल के इतिहास को भी सरलता से समझा जा सकता है।

7. सामाजिक सम्बन्धों में सुदृढ़ता लाने में भी नातेदारी का विशेष योगदान है। विभिन्न सामाजिक आयोजनों जैसे – जन्म, मृत्यु, विवाह अथवा कर्मकाण्डों के अवसर पर सभी नातेदारों द्वारा एक स्थान पर एकत्रित होने तथा आयोजन में सहभाग करने से सामाजिक सम्बन्ध अधिक सुदृढ़ बनने लगते हैं। नातेदारी के इस सामाजिक महत्व को देखते हुए ही अधिकांश समाजविज्ञानी किसी विशेष समाज की संरचना को समझने के लिए नातेदारी सम्बन्धों का अध्ययन करना अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

12.5 नातेदारी की श्रेणियाँ

व्यक्ति के अनेक नातेदार होते हैं तथा वह सभी से समान सम्पर्क, निकटता एवं घनिष्ठता नहीं रखते हैं। कुछ अधिक निकट तो कुछ दूर होते हैं। सम्बन्धों के आधार पर नातेदारों को विभिन्न श्रेणियों में बाँट सकते हैं– जैसे– प्राथमिक, द्वितीय, तृतीयक, चातुर्थिक तथा पाँचमिक आदि। मरडॉक ने नातेदारी का गहन अध्ययन किया और नातेदारी की निम्नलिखित श्रेणियाँ बताया है–

1. प्राथमिक सम्बन्धी : जब व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित है, तो उसे हम प्राथमिक सम्बन्धी कहते हैं। उदाहरण के लिये – पिता–पुत्र, पिता–पुत्री, माता–पुत्र, भाई–भाई, भाई–बहन आदि प्राथमिक रूप से सम्बन्धित हैं। व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से प्रत्यक्ष संबंधित है तो उसे हम प्राथमिक संबंधी कहते हैं उदाहरण के लिए पति–पत्नी और माता–पिता एवं संतान परस्पर प्राथमिक रूप से संबंधित है। किसी भी परिवार में प्राथमिक संबंधी आठ प्रकार के हो सकते हैं। पति–पत्नी, पिता–पुत्र, माता–पुत्र, पिता–पुत्री, माता–पुत्र, ज्येष्ठ–लघु भ्राता, ज्येष्ठ–लघु बहन तथा भ्राता बहन इसमें पति पत्नी का प्राथमिक संबंध विवाह पर आधारित है जबकि अन्य संबंधियों का रक्त प्राथमिक नातेदारी के लिए निम्नलिखित चित्र 1. 2

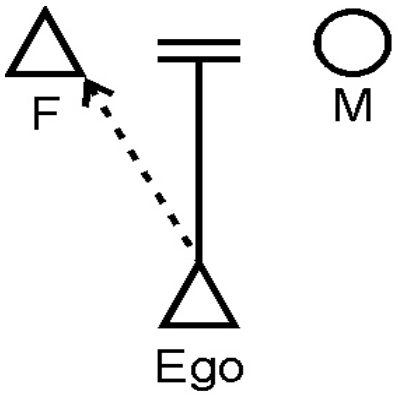

चित्र-1

अथवा

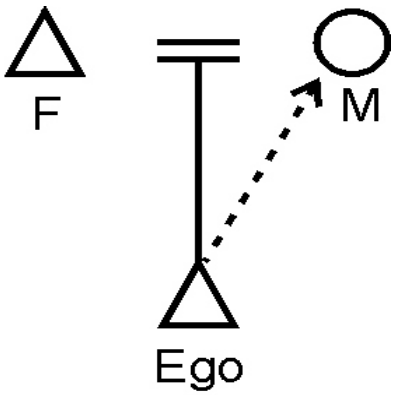

चित्र-2

2. द्वितीयक सम्बन्धी : जो लोग उपर्युक्त प्राथमिक सम्बन्धियों के प्राथमिक सम्बन्धी हैं, उन्हें हम द्वितीयक सम्बन्धी कहते हैं। जैसे– चाचा–भतीजा, मामा, नाना, नानी, सास–ससुर, देवर–भाभी आदि।

किसी व्यक्ति का पिता उसका प्राथमिक संबंधी है। परंतु दादा द्वितीयक संबंधी है। बहू सास बहु ससुर देवर भाभी साला जीजा साली जीजा चाचा भतीजा मामा भांजा इत्यादि द्वितीयक संबंधियों के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं। मर्डाक ने द्वितीयक संबंधों की संख्या 33 बताया है। चित्र निम्नलिखित है।

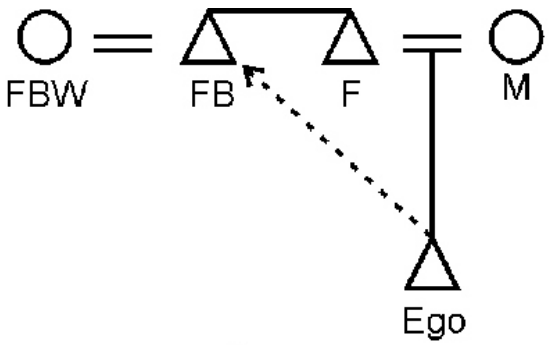

चित्र-3

अथवा

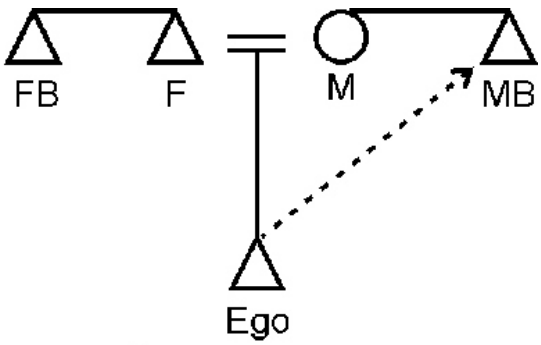

चित्र-4

3. तृतीयक सम्बन्धी : इस श्रेणी में उन नातेदारों को सम्मिलित किया जाता है जो हमारे प्राथमिक सम्बन्धों के द्वितीयक सम्बन्धी या हमारे द्वितीयक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी हैं। उदाहरणार्थ– पितामह हमारे तृतीयक सम्बन्धी होगे। दादा के पिता भी तृतीयक सम्बन्धी हैं। इस श्रेणी में नाते उन नातेदारों को सम्मिलित किया जाता है जो हमारे प्राथमिक संबंधी के द्वितीयक संबंधी या हमारे द्वितीयक संबंधित के प्राथमिक संबंधी हैं उदाहरण पितामह परदादा हमारा तृतीयक संबंधी है। क्योंकि यह हमारे प्राथमिक संबंधी पिता का द्वितीयक संबंधित अथवा हमारे द्वितीयक संबंधी दादा का प्राथमिक संबंध है। ऐसे संबंधों की संख्या मर्डाक ने 151 बताई है नातेदारी कुछ चित्र

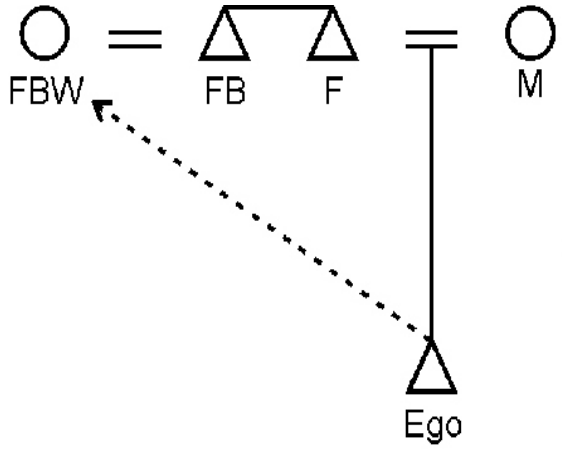

चित्र-5

अथवा

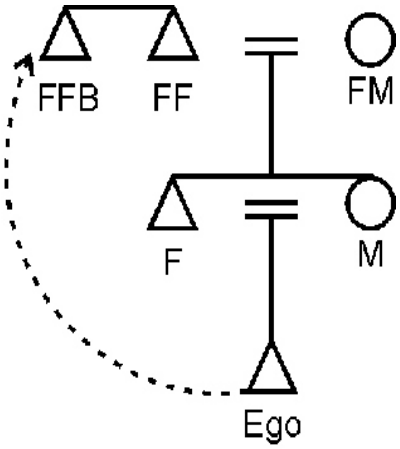

चित्र-6

4. उत्तराधिकारी : प्रत्येक समाज में व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति उसके नातेदारों या उत्तराधिकारी में देने की अपनी परम्पराएँ होती हैं। प्राचीन साहित्य में उत्तराधिकार शब्द का अधिक प्रयोग किया जाता था। इससे अभिप्राय सम्पत्ति के हस्तान्तरण से है। प्रत्येक समाज में सम्पत्ति के हस्तांतरण के अपने कुछ नियम होते हैं जो ये निर्धारित करते हैं कि व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति किसे हस्तान्तरित होगी। उदाहरण के लिये– एक पिता की सम्पत्ति अधिकार समाज में उसके लड़कों को उत्तराधिकार में मिलती है। अर्थात् पिता की सम्पत्ति का अधिकार पुत्र को मिलना, पुत्र पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होगा।

उत्तराधिकार के रूप में स्व अर्जित सम्पत्ति तथा पूर्वजों की सम्पत्ति दोनों को सम्मिलित किया जाता है। पहले इन दोनों प्रकार की सम्पत्ति का हस्तान्तरण मिताक्षरा पद्धति के अनुसार होता था। इस पद्धति के अनुसार सम्पत्ति के भागीदारों का निर्धारण पिता से पुत्र, पुत्र से पुत्र, पुत्र के पुत्र के पुत्र, विधवा, पुत्रियों, पुत्रियों के पुत्र, माँ, पिता, भाई, भाइयों के पुत्र इत्यादि निर्धारित क्रम में होता है। इस पद्धति में उत्तराधिकार का आधार पितृवंशीय परम्परा का सिद्धान्त है । याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की टीका के अनुसार व्यक्ति के अपने रक्तकणों की प्राथमिकता से उत्तराधिकार का उपर्युक्त क्रम ही सही हैं । हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1556 के अनुसार उपरोक्त क्रम में परिवर्तन किया गया है तथा इस अधिनियम द्वारा पुत्रियों, विधवाओं एवं माताओं को सम्पत्ति में पुत्रों के बराबर हक़दार माना

है। यह बात अलग है कि इस अधिनियम के पारित होने के बाद भी स्त्रियाँ पिता की सम्पत्ति पर अपना उत्तराधिकार नहीं जताती । उत्तर–पश्चिम भारत में अभी भी स्त्रियाँ स्वयं अपने कानूनी हक़ को लेने के स्थान पर इसे भाई को देना अधिक पसन्द करती हैं। उत्तराधिकारी के रूप में परिवार उन नियमों का बनाता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वंशानुगत सम्पत्ति प्राप्त हो सके। यदि यह उत्तराधिकार के नियमों की व्यवस्था न हो तो जिसके पास अधिक अधिकार तथा शक्ति होगी वही सारी सम्पत्ति को अपने अधिकार में ले लेगा।

5. पितृसत्तात्मक : वंशानुक्रम प्रायः दो शब्दों पितृसत्तात्मक तथा मातृसत्तात्मक से बना है। जो समूह पितृसत्तात्मक होते हैं उनमें वंश का निर्धारण पिता या पुरुष पक्ष की ओर से होता है। पितृसत्तात्मक के अन्तर्गत पुरुष उनके भाई और उनकी सन्तानें सम्मिलित की जाती हैं। इससे अभिप्राय पूर्वज पंक्ति के आधार पर सम्पर्क वाले वंशानुक्रम से है। पूर्वज के बेटे, उसके बेटे के बेटों, उसके बेटों के बेटे के क्रम के आधार पर पितृसत्तात्मक वंशानुक्रम का निर्धारण होता है। हिन्दू समाजों में पितृसत्तात्मक परम्परा पाई जाती हैं। पितृसत्तात्मक परम्परा में पिता की पुत्री एवं पुत्र दोनों वंशानुक्रम सदस्य होते हैं। लेकिन पिता के वंश और उत्तराधिकारी के रूप में केवल पुत्र को ही पितृसत्तात्मक सदस्य माना जाता है। पितृसत्तात्मक में बच्चे पिता के कुल को गृहण करते हैं तथा सत्ता पुरुष पक्ष में निहित रहती हैं। इस प्रकार के समाज में पुरुषों को वंश परम्परा पिता से पुत्र को मिलती है।

6. मातृसत्तात्मक : जो समूह या वंशानुक्रमों मातृसत्तात्मक होते हैं, उनमें वंश या उत्तराधिकारी का निर्धारण माता पक्ष की ओर से होता है। मातृवंशीय वंशानुक्रमों में स्त्री उसकी बहनें एवं उनके बच्चे सम्मिलित होते हैं। मातृवंशीय एवं मातृसत्तात्मक परिवार सभी समाजों में नहीं पाये जाते हैं। ये अधिकार कुछ जनजातियों में पाये जाते हैं। नायर, गारो एवं खासी जनजातियों में मातृवंशीय परम्परा पायी जाती है। पितृवंशीय एवं मातृवंशीय परम्पराओं में वंशानुक्रम का निर्धारण लिंग के आधार पर होता हैं। मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक दोनों में सत्ता या वंशानुक्रम का निर्धारण एक परम्परा के अनुसार होता है। मातृसत्तात्मक परम्परा में माँ की पुत्री एवं पुत्र दोनों मातृवंशीय होते हैं लेकिन केवल पुत्री ही

अपनी महिला सन्तान के माध्यम से माँ का वंश आगे चलती है। इस प्रकार के समाजों में स्त्रियों का उच्च स्थान होता है तथा परिवार में भी उच्च स्थान होता है । आर्थिक व्यवस्था, सम्पत्ति एवं अन्य सामाजिक विषयों पर निर्णय लेने का वास्तविक आधार स्त्रियों के पास होता है। ऐसे समाजों में विवाह उपरान्त लड़की अपने माता के निवास में रहती है। साथ में उसका पति भी रहता है। यहाँ माता की मुख्य भूमिका रहती है। मॉर्गन ने एक अन्य उत्तरी अमेरिका को चोकताव नामक जनजाति का भी अध्ययन किया है। जिसमें एक व्यक्ति अपने पिता की बहन के लड़के के लिये सम्बन्धों का वह पद प्रयोग करता है जो वह अपने पिता एवं पिता के भाईयों के लिये करता है । पितृवंशीय एवं मातृवंशीय समूह सरलतम् प्रकृति से लेकर जटिलतम् प्रकृति के हो सकते हैं। मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक दोनों वंशों का विशेष महत्व है।

7. दुहरा : दुहरा वंशानुक्रम में दो प्रकार के सामाजिक समूहों अथवा श्रेणियों का सह–अस्तित्व पाया जाता है। जिनमें से एक पितृवंशीय तथा दूसरा मातृवंशीय वंशानुक्रम पर आधारित होता है। इसमें व्यक्ति अपने पिता के पितृसत्तात्मक समूह तथा माता के मातृसत्तात्मक समूह दोनों से आबद्ध होता है। इस प्रकार के वंशानुक्रम में विभिन्न प्रयोजनों हेतु वंश परम्परा निर्धारित की जाती है। अफ्रीका में इस प्रकार के वंशानुक्रम का प्रचलन है। जहाँ व्यक्ति के लिये पितृवंशीय वंशानुक्रम एवं मातृवंशीय वंशानुक्रम दोनों का महत्व होता है। इसमें यह भी हो सकता है कि एक वंश परम्परा में चल सम्पत्ति तथा दूसरी में अचल सम्पत्ति सम्मिलित है। पितृवंशीय वंशानुक्रम तथा मातृवंशीय के आधार पर होते हैं। अफ्रीका में प्रत्येक व्यक्ति को उत्तराधिकार हेतु अनेक आनुष्ठानिक कार्यकलाप करने पड़ते हैं।

8. सम्पूरक प्रशासन : सम्पूरक वंशगत सम्बन्ध या सम्पूरक प्रशासन का अर्थ एक माता–पिता की सन्तान होने के तथ्य से है। फोर्टस जैसे विद्वानों ने एक पक्षीय वंशानुक्रम तथा वंशागत सम्बन्ध में अन्तर करने का प्रयास किया है। माता–पिता एवं सन्तान में सम्बन्ध दो प्रकार के हो सकते हैं। जैविक सम्बन्ध अथवा आनुष्ठानिक सम्बन्ध । जैविक सम्बन्ध में संतान के पिता वास्तविक होते हैं. आनुष्ठानिक सम्बन्ध में पिता ज्ञान नहीं होता तथा पिता एवं सन्तान में सम्बन्ध आनुष्ठानिक क्रिया पर निर्धारित होता है। लेकिन आनुष्ठानिक सम्बन्ध

भी संस्कृति द्वारा मान्य एवं वैध होता है । सम्पूर्ण सम्बन्ध से तात्पर्य उन सम्बन्धों से है जो प्रत्यक्ष नहीं होते हैं। परन्तु उनकी मान्यता प्राप्त होती है तथा ये सम्बन्ध अनैतिक होते हैं। सम्पूरक वंशगत सम्बन्ध ज्ञात करना आवश्यक है। नातेदारी व्यवस्था में उन सम्बन्धों को भी सम्मलित किया जाता है। जो मुख्य नातेदारी में सम्मिलित नहीं होते हैं। वंशानुक्रम में सर्वप्रथम व्यक्ति विशेष के पूर्वज आते हैं। इसके पश्चात् वंशज होते हैं। पूर्वजों एवं वंशजों से वंशानुक्रम समूह बनता है। सम्पूरक प्रशासन का सम्बन्ध लिंग पर आधारित वंशानुक्रम अथवा वक्र या वैकल्पिक व्यवस्था पर आधारित हो सकते हैं। समानान्तर वंशानुक्रम में लिंग के आधार पर वंशानुक्रम निर्धारित होता है। जिसमें सदस्यता पुरूषों द्वारा पुत्रों को और स्त्रियों द्वारा पुत्रियों को मिलती है। वंशानुक्रम का वैकल्पिक रूप भी अपेक्षाकृत कम प्रचलित है।

9. स्थानीय समूह : जनजातियों एवं पूर्व शिक्षित समाजों में नातेदारी समूह सीमित प्रकृति के नहीं होते। – वे सामाजिक समूहों की एक श्रृंखला का निर्माण करते हैं। जो घरेलू संगठन समाजीकरण की प्रक्रिया, सम्पत्ति के हस्तान्तरण, उत्तराधिकारी, धार्मिक गतिविधियों, राजनीतिक सम्बन्धों पर प्रभुत्व रखते हैं। चूँकि ये समूह सामाजिक जीवन के अनेक पक्षों को प्रभावित करते हैं। इन समूहों में वंशानुक्रम समूह, समष्टि समूह, निगमित समूह, तथा स्थानीय समूहों का महत्वपूर्ण स्थान है।

उत्तराधिकारी के संदर्भ में कई बार स्थानीय समूह का भी प्रयोग किया जाता है जिसमें मुख्य रूप से गोत्रों के उप–विभाजित समूहों को सम्मिलित किया जाता है। जनजातीय सामाजिक संगठन में गोत्र सामान्यतया उप–गोत्रों में विभाजित होते हैं। जिसमें उत्तराधिकारी अथवा वंशावली की दृष्टि से कम से कम पाँच पीढ़ियों की इकाइयाँ सम्मिलित हो सकती हैं। पितृसत्तात्मक समाज में इस प्रकार के स्थानीय समूह व्यक्ति के पिता, दादा, पुत्र तथा परपोतों द्वारा निर्मित हो सकते हैं। अथवा मातृसत्तात्मक समाजों में सत्री, उसकी माता उसकी पुत्री तथा उसकी पुत्री की पुत्रियों द्वारा निर्मित हो सकते हैं। स्थानीय वंशानुक्रम समूह प्रकार्यात्मक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हैं। इसी प्रकार निगमित समूहों का भी विशेष स्थान है।

12.6 नातेदार समूह, सहवंशीय स्वजन

नातेदार/स्वजन – रक्त अथवा विवाह बंधनो द्वारा व्यक्तियों को नातेदार या स्वजन कहते हैं। अधिकतर नातेदार परिवार से अलग रक्तमूलक होते हैं। रक्त संबंधें की मान्यता बहुधा सांस्कृतिक प्रतिमानों द्वारा निर्धरित होती है। यही कारण है कि संबंध श्रेणियों में कुछ व्यक्ति स्वजन या नातेदार माने जाते हैं, जबकि कुछ अन्य संबंधियों को सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जाता है।

भिन्नशाखाई स्वजन/नातेदारी – जो स्वजन मुख्य समूह से प्रशाखा के रूप में अलग हो जाते हैं, जैसे चाचा और चचेरे भाई–भतीजे आदि भिन्नशाखाई स्वजन कहलाते हैं। सरल भाषा में, व्यक्ति के समरेखीय स्वजनों के वंशजों को भिन्न शाखाई स्वजन कहते हैं।

समरेखीय स्वजन/नातेदारी –जो स्वजन वंशानुक्रम में प्रत्यक्षतः एक दूसरे से संबंधित होते हैं, उन्हें समरेखीय या एक शाखाई स्वजन कहते हैं। समरेखीय स्वजन एक व्यक्ति के प्रत्यक्ष पूर्वज तथा प्रत्यक्ष वंशज होते हैं, जैसे व्यक्ति के माता–पिता, दादा–दादी,परदादा–परदादी तथा उसकी सन्तानें व पोते–पोतियाँ, आदि।

प्राथमिक स्वजन नातेदारी – एक व्यक्ति से प्रत्यक्षतः नातेदारी के आधर पर जुड़े व्यक्ति प्राथमिक स्वजन श्रेणी में गिने जाते हैं। पिता–पुत्रा, पिता–पुत्री, माता– पुत्री, भाई–भाई, भाई–बहिन, बहिन–बहिन तथा पति–पत्नी प्राथमिक स्वजनों की श्रेणी में आते हैं। इनमें पति–पत्नी को छोड़कर, जो कि वैवाहिक संबंधी होते हैं, सभी रक्त संबंधी हैं।

द्वितीयक स्वजन – नातेदारी– प्राथमिक स्वजनों के प्राथमिक संबंधी द्वितीयक स्वजनों की श्रेणी में आते हैं, जैसे व्यक्ति का साला, दादा, मामा, नाना आदि। प्रसि (मानवशास्त्री जी. पी. मर्डक ने इसमें 33 प्रकार के संबंधियों का उल्लेख किया है।

तृतीयक स्वजन – द्वितीयक संबंधियों के प्राथमिक संबंधियों की गणना तृतीयक स्वजनों में की जाती है, जैसे साले की पत्नी या पुत्र। मर्डाक के अनुसार एक व्यक्ति के 151 प्रकार के तृतीयक स्वजन होते हैं।

12.7 नातेदारी के भेद

नातेदारी में सामान्यतः दो प्रकार के नातेदारों को सम्मिलित किया जाता है —

रक्तमूलक या समरक्तीय नातेदार (Consanguineous relatives) रक्त सम्बन्धों पर आधारित नातेदारों को रक्तमूलक नातेदार कहा जाता है । उदाहरणार्थ, माता–पिता का बच्चों से सम्बन्ध तथा बच्चो का परस्परिक सम्बन्ध (जैसे भाई–बहन का सम्बन्ध) इस प्रकार के नातेदारों के प्रमुख उदाहरण हैं । समान माता पिता के बच्चों को सहोदर कहा जाता है।

विवाहमूलक नातेदार (Affine relatives) इनमें उन नातेदारों को सम्मिलित किया जाता है जो सामाजिक अथवा कानूनी दृष्टि से मानव विवाह सम्बन्धों द्वारा परस्पर सम्बन्धित होते हैं। उदाहरणार्थ मूलक नातेदार हैं। पति और पत्नी के परिवार के अन्य सदस्य भी परस्पर विवाह सम्बन्धी ही ससुर, ननद, भौजाई, जीजा, साला, साली इत्यादि।

12. 8 सामाजिक सरंचना में नातेदेरी की भूमिका एव महत्त्व

नातेदारी सिद्धन्तों को समझ लेने के बाद एक व्यक्ति समाज के अन्य पहलुओं को समझने में भी समक्षम हो जाता है। सरल और आदिम समाजों में नातेदारी एक वास्तविक संस्था है। फर्थ की मान्यता है कि नातेदारी एक ऐसी विचार धारा है जिस पर एक व्यक्ति जीवन भर निर्भर रहता है, यह अगणित स्थितियों में उसके व्यवहार को नियन्त्रित करती है। नातेदारी का अध्ययन न केवल रोमांचक ही है अपितु उपयोगी भी है। सामाजिक संरचना में नातेदारी की भूमिका एवं महत्त्व को हम विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत निम्न प्रकार से प्रकट कर सकते है।

1. विवाह एवं परिवार का निर्धारण – नातेदारी ही यह तय करती है कि एक व्यक्ति के विवाह का क्षेत्र क्या होगा। किस प्रकार का विवाह निषिध है, किसे मान्यता दी गयी है और किसे अधिमान्यता (Preference) दूसरे शब्दों में, अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह, समलिंग सहोदरज एवं विषमलिंग सहोदरज विवाह (Parallel cousin and cross cousin marriage) आदि का

निर्धरण नातेदारी के आधर पर ही होता है। परिवार में रक्त एवं विवाह सम्बन्ध पर आधरित सदस्य पाये जाते हैं। दोनों ही प्रकार के सदस्यों को हम नातेदार कहते हैं। परिवार का विस्तार नातेदारी का विस्तार ही है। परिवार के प्रकार विभिन्न नातेदारों की भूमिका में पाये जाने वाले भेदों को प्रकट करते हैं। उदाहरण के लिए, मातृसत्तात्मक परिवार में भाई की भूमिका अपनी बहिन के परिवार में महत्त्वपूर्ण है, वही परिवार का संचालन करता है और वही सब प्रकार की आर्थिक क्रियाओं का केन्द्र भी होता है। परिवार की शक्ति एवं सत्ता उसके हाथ में होती है। पति ऐसे परिवारों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं करता है। इसके विपरीत पितृसत्तात्मक परिवारों में बहिन, परिवार में भाई की भूमिका नगण्य है। रैडक्लिफ ब्राउन जैसे मानवशास्त्री ने नातेदारी व्यवस्था का प्रकार्यात्मक विवेचन किया है। उसकी मान्यता है कि विवाह एवं नातेदारी एक–दूसरे के मध्य व्यवस्था उत्पन्न करते हैं।

2. सामाजिक दायित्वों का निर्वाह – रिश्तेदार एक दूसरे रिश्तेदार को बिना फल की आशा किये हुए निःशुल्क सेवाएं देता है, जबकि उन्हीं सेवाओं के लिए हमें बाह्य व्यक्ति को उसकी कीमत चुकानी होती है। रिश्तेदार एक नैसर्गिक परामर्शदाता होता है। वह कठिन परिस्थितियों में एक सहायक एवं युद्ध तथा शिकार की अवस्था में एक साथी होता है। इसी प्रकार से रिश्तेदरों की औरतें मिल–जुलकर कृषि कार्य करती हैं, घरेलू कार्यों में मदत तथा एक–दूसरे के बालकों का पालन–पोषण करती हैं। आधुनिक समाज नातेदारी सम्बन्धें की कमी वाला समाज कहा जा सकता है। फिर भी उनमें नातेदारी के मनोभाव और दायित्व तो विद्यमान हैं ही। यदि हमारे सगे चाचा, मामा, बुआ, आदि का पुत्र विषम परिस्थितियों का मारा हमारे पास आता है तो उसकी सहायता करना हमारा कर्तव्य होता है।

3. मानसिक सन्तोष – नातेदारी के मनोभाव एक व्यक्ति को मानसिक सन्तुष्टि प्रदान करते हैं। एक व्यक्ति अपने पूर्वजों के चित्र घर में टांगता है, एलबमों का संग्रह करता है, सम्भवतः इस के पीछे सैकड़ों वर्षों के नातेदारी केन्द्रित अनुभवों की खुमारी है। मानवता का इतिहास इस बात का द्योतक है कि एक लम्बी अवधि तक मानव जाति नातेदारी पर आधरित समूहों में रही है। व्यक्ति का स्वास्थ्य, सुरक्षा जीवन सभी कुछ नातेदारों के हाथ में था। नातेदारी विहीन व्यक्ति अपने को बिना सामाजिक प्रतिष्ठा वाला एवं निकृष्ट रूप में मृत

व्यक्ति के समान ही मानता था। मनुष्य की एक प्रवृत्ति यह है कि वह अपरिचित से डरता है और परिचित पर विश्वास करता है। रक्त सम्बन्धी हमारे सबसे अधिक परिचित व्यक्ति हैं क्योंकि वे हमारे ही अंग के हिस्से समझे जाते हैं। नातेदारों के बीच अपने को पाकर एक व्यक्ति अपार मानवीय आनन्द, प्रसन्नता और सन्तोष महसूस करता है।

12.9 नातेदारी पर आधुनिकता का प्रभाव

हमारे समाज में सभी नातेदारी की अपनी विशिष्ट महत्व है तथा व्यक्ति अधिक व्यस्त जीवन यापन कर रहा है। वे अपनी जीवकोपार्जन हेतु अन्य शहरों, राज्यों तथा विदेशों में जाकर कार्य करता है। इसमें व्यक्ति अपनी वास्तविक नातेदारी एवं पारिवारिक सामाजिक जिम्मेदारी का निर्वहन अच्छी तरह से नहीं कर पाता है। अक्सर व्यक्ति सभी प्रकार के प्रकार सामाजिक पारिवारिक कार्यों में अनौपचारिकता को पूरा करता है। इसका प्रभाव बड़े शहरों एवं महानगरों में अधिक देखने को मिल रहा है। जहाँ व्यक्ति प्राथमिक नातेदारी में भी अनौपचारिक सम्बन्धों को निभाता है। ग्रामीण एवं कस्बों पर इसका प्रभाव निम्न है। इससे सभी प्रकार के सम्बन्धों में अपनापन के गुण का अभाव देखने को मिल रहा है।

आज वर्तमान समाज में धन समृद्धि वाले नातेदार को अधिक प्राथमिकता दिया जाता है। अधिकांशतः समाज में जिन नातेदार के पास धन या उसकी आर्थिक स्थिति मजबूत होती है उसे ही समाज एवं परिवार में विशेष महत्व देते है। इसके जगह पर यदि कोई गरीब नातेदार हो तो उसकी उपेक्षा किया जाता है। पहले की अपेक्षा दूसरे नातेदार को केवल उसकी आर्थिक स्थिति के कारणों से कभी कभी उपहार का पात्र भी मान लिया जाता है। यदि इसी में प्राथमिक नातेदार में जो परिवार या साथ में रहते है। उसकी अपेक्षा साथ में नहीं रहने वाले व्यक्तियों का सम्मान या पूछपरख अधिक होती है। उदाहरण स्वरूप जिस नातेदार के पास आर्थिक समृद्धि होती है उसे अधिक सम्मान एवं प्राथमिकता दिया जाता है।

आज नातेदारी का स्वरूप पूर्णता परिवर्तित हो गया है। वर्तमान में व्यक्ति अपने कार्यों में इस प्रकार व्यस्त है कि उसे किसी अन्य नातेदार को जानने या मिलने का समय नहीं है।

आधुनिकता इस प्रकार हावि है कि व्यक्ति केवल धन कमाने में लगा है। जिससे व्यक्ति अन्य नातेदारियों के लिए समय नहीं निकाल पा रहा है। इस कारण से नातेदारियों के सम्बन्ध में औपचारिता बढ़ रही है तथा नातेदार कमजोर होते जा रही है। नातेदारों को धन या समृद्धि के रूप में माप तौल कर देखा जा रहा है। ये सभी नातेदार (प्राथमिक, द्वितीयक एवं तृतीयक) में आधुनिकता एवं धन समृद्धि का स्पष्ट का स्पष्ट देखने को मिलता है। यह गाँव की अपेक्षा बड़े शहरों में अधिक प्रभाव है।

12.10 सारांश

मानव सामाजिक प्राणी है। वह जन्म से मृत्यु तक अनेक व्यक्तियों से घिरा होता है अर्थात् उसका सम्बन्ध अनेक व्यक्तियों से होता है, परन्तु इनमें से उसका सर्वाधिक सम्बन्ध उन व्यक्तियों के साथ होता है जो विवाह तथा रक्त सम्बन्ध व पारिवारिक आधार पर सम्बन्धित होती है। नातेदारी का आधार सामान्यतः जैविकीय होते हुए भी सामाजिक आधार होता है अर्थात् नातेदारी में सामाजिक मान्यता जैविकीय तत्व पर आरोपित होती है। गोद लिया गया संतान जैविकीय तत्व नहीं होती लेकिन सामाजिक मान्यता द्वारा इससे जैविकीय सम्बन्ध किया जाता है। प्रत्येक समाज नातेदारी सम्बन्धों का ढाँचा प्रस्तुत करता है। अपने नाभिकीय परिवार के बाहर व्यक्ति के द्वितीयक एवं तृतीयक सम्बन्ध होते है। नातेदारी संस्कृति का वह हिस्सा है, जो जन्म और विवाह के आधार पर बने सम्बन्ध एवं सम्बन्ध की अवधारणाओं एवं विचारों से सम्बन्धित होता है। जब हम नातेदारी शब्द का प्रयोग करते है तो हम लोग रक्त सम्बन्धियों एवं विवाह सम्बन्धियों को सन्दर्भित कर रहे हैं। इस तरह के सम्बन्ध जो विवाह या रक्त सम्बन्धों के कारण होते हैं, नातेदारी सम्बन्ध कहलाते है। वर्तमान में सभी प्रकार के नातेदारी सम्बन्धों में अनौपचारिकता के स्तर में वृद्धि हो रही है। साथ ही लोग केवल अपने लाभ के बारे में सोचने लगे हैं जिससे वे अपने नातेदारों में श्रेष्ठ बनकर रहे। किसी सामाजिक कार्य, उत्सव आदि में सभी नातेदारी में निरसता बढ़ रहा है। जिससे आज नातेदारी कमजोर होते जा रही है।

- यौन इच्छा विवाह को जन्म देती है तथा विवाह परिवार एवं नातेदारी को।
- नातेदारी प्रणाली में कल्पित तथा वास्तविक वंशानुगत बंधनों पर आधरित समाज द्वारा मान्य संबंधों को सम्मिलित किया जाता है।
- नातेदारी वंशावली का निर्धरण करती है।
- नातेदारी विवाह का क्षेत्र तय करती है।

सभी मानव समाजों की रचना में थोड़ा–बहुत परिवर्तन के साथ नातेदारी विद्यमान रहती है।

12.11 बोध प्रश्न

प्रश्न संख्या 1 नातेदारी के अर्थ और परिभाषा का वर्णन कीजिये ?

प्रश्न संख्या 2 नातेदारी की प्रमुख विशेषताएँ बताएँ ?

प्रश्न संख्या 3 हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, कब पारित हुआ था ?

प्रश्न संख्या 4 रॉबिन फॉक्स के अनुसार – नातेदारी की अत्यन्त सामान्य परिभाषा यह है कि नातेदारी केवल मात्र स्वजन अर्थात् वास्तविक ख्यात् अथवा कल्पित ..... वाले व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध हैं।

12.12 बोध प्रश्न के उत्तर

(1) सारणी संख्या 12.2 देखे

(2) सारणी संख्या 12.3 देखे

(3) 1556

(4) समरक्तता

12.13 संदर्भ ग्रंथसूची

- एम. एस, 1968. अर्बनैजेशन एंड फॅमिली चेंज इन इंडिया. पापुलर प्रकाशनः बॉम्बे
- कामे, आई, 1965.किनशिप ऑर्गनाइजेशन इन इंडिया. एशिया पब्लिशिंग हाउसः मुंबई
- कार्वे, इरावती,1953.किनशिप ऑर्गनाइजेशन इन इंडिया. डेकन कॉलेज पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना
- कपाड़िया,के.एम,1972.मैरेज एंड फॅमिली इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसरू बॉम्बेभार्गव, उदित ''नातेदारी'' 02 मई 2010 लेख.
- मिश्रा, गोपाल, जनरल नालेज इनसाइक्लोपीडिया, 2009
- हिन्दू मुस्लिम विधि, उपकार प्रकाशन, 2011, .
- राठौर, अजय सिंह ''भील जनजाति शिक्षा एवं आधुनिकीकरण'' 1994.
- T. B. Bottomore, Sociology : A Guide to Problems and Literature